प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान-पीठ
लोहामँडी, आगरा।

सम्वत २०११
सन् १९५५ ई०
मूल्य ३)

मुद्रक—
सूरजभान गुप्ता,
सरस्वती प्रेस,
बेलनगंज, आगरा।

प्रकाशकीय

'सन्मति-ज्ञान-पीठ' के इस अनुपम तथा अमूल्य रत्न को पाठकों के कर कमलों में अर्पित करते हुए मेरा अन्तर्मन हर्षोल्लास से भर रहा है, शरीर का रोम-रोम पुलकित हो रहा है। घर-गृहस्थी में भी कुछ कर गुजरने की स्फूर्त चेतना को अनुप्राणित करने के कारण सन्मति-प्रकाशनों में इस नव्य-भव्य प्रकाशन का अपना एक अलग ही महत्व है—यह दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है।

प्रस्तुत प्रकाशन में श्रमण भगवान् महावीर के सर्वोपरि गृहस्थ साधक आनन्द श्रावक के जीवन की सजीव झलकियाँ हैं, जो गृहस्थ जीवन की तस्वीर पर अपना सीधा प्रकाश फैंकती हैं और "हम तो गृहस्थी हैं, हम क्या कर सकते हैं?"—इस प्रकार अपने-आप में उलझे हुए भ्रान्त मन-मस्तिष्कों को कुछ देर ठहर कर सही दिशा में यह सोचने के लिये मजबूत करती हैं कि "गृहस्थ जीवन भी स्वार्थी एवं लोकैषणाओं का खेल खेलने के लिए नहीं है। वहाँ तो जीवन की बागडोर को अपने मजबूत हाथों में संभाल कर रखना होता है, जीवन के प्रत्येक मोड़ पर संयम, विवेक तथा मर्यादा के प्रकाश की मशाल को आगे लेकर चलना पड़ता है। यह जीवन की ऐसी स्थिति है, जहाँ जीवनवीणा के तारों को न एकान्त कसना ही होता है और न एकदम ढीला ही छोड़ा जा सकता है। वहाँ तो जीवन की गाड़ी को ब्रेक लगाकर चलना होता है, जिससे वह चलने की जगह चल सके और रुकने की जगह रुक सके।"

कितना अध्यात्म-चमत्कार से परिपूर्ण था उस महान् गृहस्थ साधक का जीवन; जो आज भी आगम के स्वर्णिम पृष्ठों पर अपनी पूर्ण आभा के साथ चमक रहा है। कवि श्री जी की तेजस्वी वाणी पर चढ़कर तो आनन्द के जीवन

की रेखाओं का रूप-स्वरूप और भी उद्दीप्त हो उठा है। कवि श्री जी के सूक्ष्म चिन्तन, प्रतिभा पूर्ण विश्लेषण, प्रवाहशील भाषणशैली और ओजस्वी भाषा से उस महान् गृहस्थ कर्मयोगी के जीवन का अन्तस्तत्त्व इतनी स्पष्टता के साथ उभर कर ऊपर आ गया है कि हम उसे साफ तौर से देखजान सकते हैं और यथाशक्ति उन प्रकाशमयी किरणों को आत्मसात् कर अन्तर्जीवन का अन्धेरा मिटा सकते हैं।

इन पृष्ठों में आनन्द श्रावक का शृंखलाबद्ध जीवन तो हमें न मिल सकेगा। यहाँ तो गहरे पानी में पैठकर जीवन के शिक्षात्मक एवं गृहणात्मक पहलुओं को लेकर कवि श्री जी ने चिन्तन की इतनी गहरी डुबकियां लगाई हैं कि देखते ही बनता है। आनन्द के जीवन की धारा ने भगवान् महावीर की जादू-भरी वाणी से किस प्रकार एक नया मोड़ लिया, उस भरे पूरे वैभव-विलास के बीच बैठकर भी किस प्रकार उस महान् गृहस्थ साधक ने अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण किया, मन को साधा और आत्मा को मांजा और यह सब कुछ करते हुए भी किस तरह अपने पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन के सन्तुलन को अडोल रखा, किस पटुता एवं सतर्कता के साथ सामाजिक दायित्वों का पूर्णतः निर्वहण किया—यही सबकुछ देखने को मिलेगा हमें आनन्द की इन हलकी सी जीवन झाँकियों में।

अन्य प्रकाशनों की भाँति हमारा यह नवीन प्रकाशन भी पाठकों के अन्तर्हृदय में जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति निष्ठा और उच्चतर आकांक्षाओं की ऊर्जस्वल भावना को जगा सकेगा—ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

रतनलाल जैन मीतल
मंत्री, सन्मति ज्ञान-पीठ
लोहामण्डी, आगरा।

दो शब्द

पच्चीस सौ वर्ष पहले की बात है भगवान् महावीर के समय में वाणिज्य ग्राम नामक एक नगर था। इस नगर में आनन्द गाथापति नाम का एक अत्यन्त समृद्ध गृहस्थ रहता था, उसके पास चालीस सहस्र गायें और बहु-संख्यक भैसें तथा बकरियां थीं। पाँच सौ हलों की खेती होती थी। आनन्द बड़ा उदार था, उसने मानवता का वास्तविक अर्थ और उद्देश्य समझ कर उसे अपने जीवन में ढालने की पूरी चेष्टा की थी। वह अपने आप में सीमित नहीं था, वरन् उसने अपने आप को प्राणि-मात्र में बखेर दिया था। अर्थात् जीव-धारी मात्र के लिए उसकी आत्मीयता थी। सारी जनता आनन्द को अपना समझती थी। वह अत्यन्त नीति-निष्ठ, प्रामाणिक, विश्वासपात्र और उदार था। अगणित जन उससे लाभ उठाते, सुख पाते और उसके गुण गाते थे। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योंकि आनन्द की सहस्रों गाएँ; विपुल सम्पत्ति और विशाल शक्तिमत्ता दूसरों के लिए ही थी। उसके लोक-प्रिय होने की यही सबसे बड़ी विशेषता थी।

एक दिन भगवान् महावीर स्वामी पर्यटन करते करते वाणिज्य ग्राम में भी पधारे। उनके शुभागमन की सूचना पाकर सर्वत्र धूम मच गई। सारी जनता दर्शन और प्रवचन श्रवण करने के लिए उमड़ पड़ी। आनन्द गाथापति जैन नहीं

था, तथापि भगवान् महावीर के चरणों में उसकी अगाध श्रद्धा थी। वह बड़े भक्ति भाव से प्रेरित प्रभावित होकर, सरलता और श्रद्धा को हृदय में लिये, प्रभु-दर्श के लिए चला। सभा-स्थल में पहुंच विधिवत् प्रभु की परिक्रमा की और विनम्रता पूर्वक श्रोतृ समुदाय में बैठ गया। भगवान् महावीर के मुख से निःसृत प्रवचन के एक-एक शब्द को उसने बड़े ध्यान से सुना और उस पर चिन्तन तथा मनन भी किया। आनन्द पर उस प्रवचन का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह तत्काल प्रभु का अनन्य अनुयायी बन गया। वह सहृदय और श्रद्धा-सम्पन्न भक्त था। उसका जीवन इतना विकसित हो चुका था कि वह भगवान् की सेवा में उपस्थित होते ही साधक-कोटि में पहुँच गया।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रधान विषय या मूल प्रसंग इतना ही है। इसी कथा को विद्वान लेखक ने अपने प्रवचनों का रूप दिया है। ये प्रवचन, ब्यावर (अजमेर) के 'कुन्दन भवन' में लेखक द्वारा समय-समय पर दिये गये हैं। इन प्रवचनों की विशेषता यह है कि उनमें आनुषंगिक प्रसंगों की भी चर्चा बड़ी विवेचना और विशदता के साथ हुई है। श्रद्धा क्या है, वन्दना (अभिवाद) की प्राचीन विधि, सिद्धान्त-रक्षा, उद्देश्य-पालन, श्रवण, मनन और चिन्तन, मानव-जीवन-नीति गोपालन का मर्म, पुण्य-पाप की गुत्थी इत्यादि अनेक महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया है।

पुस्तक में जहाँ आनन्द गाथापति द्वारा, अपने को प्रभु चरणों में सश्रद्ध समर्पित कर देने की चारु चर्चा है, वहाँ

उसमें विविध विषयों की व्याख्या भी बड़ी सुन्दर है। जैन ही नहीं, सब ही विचारों और धर्म सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाले पाठक इससे यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक में मानवता तत्त्व बड़ी सरलता और सूक्ष्मता से समझाया गया है। आस्तिक वाद की व्यापक परिभाषा की है। निर्ग्रन्थ से क्या अभिप्राय है, इसके सम्बन्ध में बताया है कि गाँठ-रहित होना ही 'निग्रन्थ' है। अर्थात् जिसका हृदय और जिसकी वाणी दोनों स्वच्छ और निर्मल है, वही 'निर्ग्रन्थ' है। यानी जो जिसके भीतर है वही उसके बाहर भी हो। मन, वचन और कर्म तीनों में समता या सामञ्जस्य होना ही 'निर्ग्रन्थ' भावना है। वासनाओं की वशवर्तिता का उल्लेख करते हुए विद्वान लेखक ने बताया है कि वासनाओं में फँसकर जीवन इतना निःसार और निकृष्ट हो जाता है कि वह अनेक रूपों में स्वतन्त्र होकर भी स्वतन्त्र नहीं रहता।

पुस्तक के अनमोल प्रवचनों में सबसे अधिक बल मानवता और आत्म-जागरण पर दिया गया है। वस्तुतः एक सच्चा साधक या श्रावक का शरीर मन या इन्द्रियों की परवा न कर जब आत्म-प्रेरणा की ओर ही प्रवृत्त होगा तभी उसे आत्मजागृति का सुअवसर प्राप्त हो सकता है। अभिप्राय यह है कि आत्मा के जगाने से ही मनुष्य का कल्याण होगा। कैसी सुन्दर सूक्ति और कितनी उत्कृष्ट भावना है। जो लोग स्वयं सुख सागर में निमग्न होकर संकट-ग्रस्त पड़ोसी का चीत्कार या हा-हा-कार नहीं सुनते, उनके कष्टों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, क्या वे मनुष्य कहे जा सकते

हैं ? क्या उन्हें मानव कहना उचित होगा ? विश्व-बन्धुत्व का भाव ही मानवता है। जो व्यवहार या जो बातें अपने अनुकूल नहीं, उन्हें दूसरों के लिए भी उचित या आवश्यक न समझो—उनके साथ भी प्रतिकूल व्यवहार न करो। यही मानवता का मर्म और यही धर्म का सार है। फिर मनुष्य, मनुष्य तक ही, अनुकूल व्यवहार करने में, क्यों सीमित रहे; उसे अपने पड़ोसी पशु-संसार के साथ भी स्नेह-पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। गाय, भैंस बकरी, अश्व, गज, ऊँट, श्वान, आदि जिन पशुओं से भी मानव को पोषण या साहाय्य प्राप्त होता है, उनके प्रति भी उसे सदय हो सन्मित्र का सा ही स्नेह पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इसी या ऐसे ही तत्त्वों पर इन प्रवचनों में बल दिया गया है।

पुस्तक के लेखक या प्रवचनों के दाता कविरत्न श्री अमर मुनि महाराज भारत-विख्यात जैन साधु हैं। आपकी लेखनी और वाणी में शक्ति सामर्थ और ओज-तेज है। इन दोनों के आधार में है—कविरत्न जी का तपःपूत जीवन और उदार एवम् उदात्त चरित्र बल, इसीलिए उनकी लेखनी और वाणी का प्रभाव सहृदय श्रोताओं के हृदय-पटल पर अङ्कित हुए बिना नहीं रहता। कवि जी की लेखन-शैली स्वाभाविक, सरल और आकर्षक है। शब्दों में प्राण और भावों में अनुभूति है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते ऐसा भान होने लगता है, मानो कोई महान् पुरुष प्रवचनामृत की विमोहक वर्षा कर रहा है, और उसके हृदय से निकला एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द पाठक को बलात अपनी ओर खींचे लिए जाता है।

कवि की भाषा में कवित्व की झलक तो होनी ही चाहिए इस दृष्टि से भी पुस्तक सुन्दर है।

आशा है यह पुस्तक हिन्दी साहित्य-भण्डार में समुचित स्थान प्राप्त करेगी और लोगों में जो स्वार्थ, अनैतिकता तथा कालुष्य की दुर्भावना फैल चुकी है, उसे नष्ट भ्रष्ट या न्यून करने में सबल सहायक सिद्ध होगी। मानव-कल्याण की मृदुभावना से दिये गये पुण्य प्रवचनों की इस छोटी किन्तु प्रभाव पूर्ण पुस्तक के लिए हम कविरत्न अमर मुनि जी महाराज का बड़ी श्रद्धा से हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

शङ्कर-सदन, आगरा
८ जनवरी १९५५

हरिशङ्कर शर्मा

विषय सूची

आनन्द की जीवन-नीति

यह श्री उपासकदशांग सूत्र है। श्रमण भगवान् महावीर ने जगत्-कल्याण की दृष्टि से जो उपदेश दिया, उसे उनके शिष्यों (गणधरों) ने द्वादशांगी के रूप में कंठस्थ कर लिया था। यह उन दिनों की बात है, जब हमारे यहां भिक्षु-संघ में लिखने की पद्धति प्रचलित नहीं हुई थी। उन दिनों महापुरुषों के सन्देश, उनके शिष्यों के द्वारा इसीलिये कंठस्थ कर लिये जाया करते थे। और गुरु अनुग्रह-पूर्वक उन्हें कंठस्थ करा भी दिया करते थे। और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा से वह उपदेश यथावत् कायम रहता था। प्रत्येक जिज्ञासु, जो आगम का अध्ययन करना चाहता था, अपने गुरु से सुनकर

ही अध्ययन करता था। इसी कारण भारत के प्राचीन शास्त्र 'श्रुत' या 'श्रुति' कहलाते हैं।

जैन परम्परा का श्रुत यों तो बहुत विशाल है, किन्तु उस समग्र श्रुतराशि का आदि-स्रोत द्वादशांगी है। द्वादशांगी का अर्थ है—आचारांग आदि बारह शास्त्र। जैन परम्परा के अनुसार यह अंग-सूत्र साक्षात् भगवान् महावीर के उपदेश हैं और गौतम आदि गणधरों ने उन्हें शब्दबद्ध किया है।

कालचक्र के अप्रतिहत प्रभाव से आज वह आगम अविकल रूप में हमें उपलब्ध नहीं है। फिर भी उसका जितना अँश शेष बचा है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उससे प्राचीन भारतीय विचारधारा के एक अत्यन्त उज्ज्वल और मौलिक अङ्ग का हमें परिचय मिलता है। ये वही विचार हैं, जिन्होंने भारतवर्ष के निष्प्राण क्रियाकाण्डमय और बहिर्मुख धार्मिक जीवन में एक बार घोर उथल-पुथल मचा दी थी। जिन विचारों नें जगत् को धर्म का एक प्राणमय आन्तरिक स्वरूप प्रदान किया था। जिन विचारों की बदौलत ही जनता को अपने अन्तर में क्रन्तिकारी परिवर्तन करने के लिए एक नूतन दृष्टिकोण मिला था। वास्तव में, आगमों में ये ही विचार संग्रहीत हैं। तो, जीवन की दृष्टि से तो ये आगम उपयोगी हैं ही—धार्मिक एवं सामाजिक इतिहास आदि के दृष्टिकोण से भी वे कम उपयोगी नहीं हैं। तो यह सत्य ही है कि जैनागम-साहित्य उस समय की एक व्यापक क्रान्तिकारी विचार-

धारा का प्रतीक है। वास्तव में, जैनागम प्रतिपादित विचारों ने उस समय प्रत्येक क्षेत्र में अनेक मौलिक परम्पराओं को जन्म दिया है। जो, सभी युगों में समान रूप से सभी के लिये उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

यह उपासकदशांग सूत्र द्वादशांगी का सातवां अङ्ग है। मगर इस अङ्ग में जिज्ञासुओं के लिये भी महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है, यद्यपि इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कतिपय उपासकों अर्थात् गृहस्थ-श्रावकों की दशाओं का वर्णन है। उपासक दशांग के कुल दस अध्ययन हैं और उनमें दस उपासकों की जीवन-चर्या का विवरण है।

उस समय अङ्ग जनपद में ही नहीं, बल्कि समग्र भारतवर्ष में चम्पापुरी अत्यन्त प्रख्यात नगरी थी। उन दिनों अक्सर भारत के अधिकांश भाग का शासन-सूत्र वहीं से संचालित होता था। तो, जान पड़ता है, चम्पा नगरी अत्यन्त प्राचीन नगरियों में से एक है। हमारे बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की वह जन्मभूमि, साधना-भूमि और निर्वाणभूमि है। सोलह सतियों में सुप्रसिद्ध सुभद्रा सती भी चम्पा की ही रहने वाली थीं। भगवान् महावीर के परम भक्त सम्राट कूणिक ने राजगृह से हटाकर चम्पा को ही अपनी राजधानी बनाया था। प्रख्यात शीलव्रती सुदर्शन सेठ यहीं के निवासी थे।

इस प्रकार चम्पा का राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्त्व

तो है ही, साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है। शय्यंभव सूरि ने प्रसिद्ध दशवैकालिक सूत्र की रचना इसी नगरी में की थी।

चम्पा नगरी के नामोच्चारण के साथ इस प्रकार की न जाने कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे मस्तिष्क में चित्रपट की भांति घूम जाती हैं। वास्तव में, चम्पा नगरी ने भारतीय इतिहास के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

हजारों लाखों वर्ष पहले भी भारत की संस्कृति उच्चश्रेणी पर पहुँच चुकी थी। जैनागमों के वर्णन इस तथ्य की साक्षी हैं। प्रत्येक बड़े नगर के बाहर उस समय नाना प्रकार के वृक्षों, लताओं और पौधों से हरे-भरे अतिशय रमणीय उद्यान बनाये जाते थे। वे नागरिकों के आमोद-प्रमोद के स्थल होते थे। और उन दिनों चम्पानगरी के बाहर भी 'पूर्णभद्र' नामक एक उद्यान था।

एक बार आर्य सुधर्मा स्वामी विहार करते-करते चम्पा में पधारे। उनके सुप्रसिद्ध शिष्य जम्बू मुनि ने सुधर्मा स्वामी से सातवें अङ्ग को श्रवण करने की इच्छा प्रकट की। तो आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य की इच्छा के हेतु उपासक दशांग का बखान किया।

भगवान् महावीर के समय में वाणिज्यग्राम नामक एक नगर था, जिसमें उन दिनों आनन्द नामक एक गाथापति निवास करता था।

उन दिनों विशेष रूप से प्रतिष्ठित और जन-समूह द्वारा

प्रशंसित गृहस्थ गाथापति कहलाता था। आनन्द गाथापति था—क्योंकि उसके धन-धान्य, ऋद्धि, वैभव तथा उसके व्यवहार को देख-देखकर लोग उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। उसके ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

अड्ढे दित्ते वित्थिण्ण विउल भवण-सयणासन-जाण-वाहणाइण्णे, बहुधण बहुजायरूवरयए, आओगपओग संपउत्ते, विच्छड्डियविउल-भत्तपाणे, बहुदासीदास गो महिस गवेलप्पभूए, बहुजणस्स अपरिभूए।

आनन्द विशाल समृद्धि से युक्त था। स्वभाव से भी ओजस्वी! आजकल के अनेक बनियों की भाँति दब्बू नहीं। वास्तव में दब्बूपन का कारण प्रायः संस्कारहीनता, बुद्धि की कमी अथवा अनैतिकता है। जिसमें सभ्य और शिष्ट पुरुषों के बीच बैठने और उचित बर्ताव करने की योग्यता नहीं है, जो बुद्धिहीन है अथवा जिसके व्यापार-व्यवहार में अनैतिकता है, उसे दूसरों के सामने दब कर रहना पड़ता है। जिसमें जीवन सम्बन्धी ऐसी कोई दुर्बलता नहीं, वह किसी से दबेगा भी नहीं। आनन्द के विषय में, शास्त्र में, जो कहा गया है, उससे प्रतीत होता है कि वह बड़ा ही सभ्य-शिष्ट, बुद्धिशाली, तेजस्वी और नीतिनिष्ठ था। उस समय में व्यापारियों में अग्रणी होने के कारण वह विपुल धन-सम्पत्ति का स्वामी था। शय्या, आसन, घोड़ा गाड़ी आदि भोग की प्रचुर सामग्री से भरे पुरे उसके अनेक विशाल महल थे। नित्य प्रति उसके

यहां बहुत सा भोजन बच जाया करता था, जिससे बहुत से गरीबों की भूख की ज्वाला शान्त हुआ करती थी। हमारे देश में पहले इतनी उदार भावना थी कि गृहस्थ-जन नाप-नाप कर और तोल-तोल कर भोजन नहीं बनाते थे। ऐसा करना बुरा समझा जाया करता था। गीताकार ने तो स्पष्ट कहा था कि जो लोग सिर्फ अपने उदर की पूर्ति करने के लिये भोजन बनाते हैं और उसका थोड़ा सा भी भाग अतिथि-अभ्यागतों को दान नहीं करते, वे अघभोजी हैं, पाप का भोजन करते हैं।

भोजन बनाने में बहुत-सा आरंभ-समारंभ होता है और आरंभ-समारम्भ से पाप होता है। मगर बुद्धिमान गृहस्थ उस पाप के द्वारा भी पुण्य का उपार्जन किस प्रकार कर सकता है, यह कला आनन्द के इस वर्णन से सीखी जा सकती है। मगर इस कला को सीखने से पहले, उसकी पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने स्वयं ही उस पृष्ठभूमि का उल्लेख कर दिया है।

आनन्द के भोजनालय में प्रतिदिन बहुत सा जो भोजन बचा रह जाता था, उसका कारण उसकी आन्तरिक उदारता तो थी ही, किन्तु उस उदारता का भी एक विशेष कारण था। वह यह कि आनन्द को भोजन सामग्री बाजार से खरीद कर नहीं लानी पड़ती थी। प्रधान भोजन सामग्री के विषय में वह पूरी तरह स्वावलम्बी था। भोजन की पहली सामग्री

अन्न है और अन्न उत्पन्न करने के लिए वह विशाल पैमाने पर खेती कराता था। उसके यहां पाँच सौ हल की खेती होती थी। भोजन की दूसरी सामग्री घी-दूध समझी जा सकती है और उसके लिए भी वह परावलम्बी नहीं था। उसके यहां चालीस हजार गायें पलती थीं। गायों की संख्या को बतलाते हुये कहा गया है कि

चत्तारि वया, दसगोसाहस्सिएणं वएणं होत्था।

अर्थात आनन्द के यहां दस हजार गायों के एक ब्रज के हिसाब से चार ब्रज थे!

उसके यहां की भैंसों की संख्या को शास्त्रकार ने नहीं बतलाया है। तो, जिसके घर पाँच सौ हल चलते हों और चालीस हजार गायें तथा बहुत सी भैंसें हों, उसके यहाँ अन्न, घी, दूध और छाछ की क्या कमी हो सकती है? ऐसी स्थिति में उसकी भोजनशाला में अपनी आवश्यकता से भी अधिक भोजन बनाया जाना और उससे याचकों एवं अनाथों का पालन-पोषण होना स्वाभाविक ही है। बाजार से मोल अन्न, घी, दूध, आदि खरीदने वालों में यह उदारता आना बहुत कठिन है।

आनन्द के यहाँ गायों और भैसों के अतिरिक्त बकरों, बकरियों और भेड़ों की भी एक बड़ी संख्या थी।

प्रश्न हो सकता है कि जिसके यहाँ गायों और भैंसों की

इतनी बड़ी संख्या हो उसे बकरियाँ और भेड़ें रखने की क्या आवश्यकता थी ?

इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर तो आनन्द से ही माँगा जा सकता है; मगर क्योंकि आज आनन्द हमारे बीच में मौजूद नहीं है इसलिये इस सम्बन्ध में केवल दो ही बात कही जा सकती हैं—

पहली यह कि पाँच सौ हलों की विशाल खेती करने वाले वैश्य को खाद की बड़ी आवश्यकता रहती होगी और खाद उत्पन्न करने के लिए उसने बकरियों और भेड़ों का पालन आवश्यक समझा होगा। कृषि-विशारदों के कथनानुसार खाद के अभाव में खेत यथोचित फसल प्रदान नहीं करते। खेत रखना; किन्तु उनका पर्याप्त उपयोग न करना, उनसे पूरा लाभ न उठाना अथवा उन्हें यों ही पड़ा रखना भी एक प्रकार का देशद्रोह है, प्रजा के प्रति अनैतिकता है। आनन्द जैसा चतुर एवं विवेकशील गृहस्थ इस तथ्य को भलीभांति समझता था। संभवतः इसी विचार से उसने बहुत सी भेड़ों और बकरियों का पालन करना आवश्यक समझा होगा। शास्त्रकार ने भी आनन्द की इस दृष्टि को महत्त्व प्रदान करने के लिए शास्त्र में इसका उल्लेख करना आवश्यक समझा।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। अधिकांश लोग उपयोगिता के दृष्टिकोण से प्रत्येक बात पर विचार करते हैं। अमुक कार्य करने से

एक-एक कण जगत् के मङ्गल के लिए प्रदान कर कृत-कृत्य बने! वास्तव में, उन्होंने अपने कार्य-कलापों के भव्य प्रासाद स्वार्थ की भूमिका पर नहीं, सेवा और परोपकार की नींव पर खड़े किये हैं।

इस प्रकार जीवन की कृतार्थता इस बात में नहीं कि प्रत्येक कार्य करते समय मनुष्य अपने ही लाभ की बात सोचे; वरन् इसमें है कि वह दूसरों की भलाई की दृष्टि से विचार करे।

आनन्द ने बहुसंख्यक भैंसों और चालीस हजार गायों का पालन करते हुए भी भेड़ें और बकरियां क्यों पाल रक्खीं थीं, इस प्रश्न का उत्तर हमें इस दूसरे दृष्टिकोण में अनायास ही मिल जाता है। भेड़ों और बकरियों की उसे कुछ आवश्यकता हो या न हो, उनसे उसकी कोई स्वार्थ-साधना हो या न हो, फिर भी पशु-पालन करना उसका कर्त्तव्य था— एक वणिक के नाते भी और उन पशुओं की प्रतिपालना के नाते भी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन पशुओं का पालन करना अपने आप में ही उसका लाभ था। वह पशु-जगत् के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहता था।

अपने ही लाभ की दृष्टि होती तो आनन्द चालीस हजार गायों का भी क्यों पालन करता? उसके और उसके परिवार के लिए तो दस-बीस गायें भी पर्याप्त थीं। फिर भी वह चालीस हजार गायों का पालन-पोषण करता था। इससे

भी यही प्रतीत होता है कि आनन्द अपने लाभ की दृष्टि से नहीं, किन्तु पशुओं के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करने की दृष्टि से पशुओं का पालन करता था। यह उसकी जीवन-नीति थी।

इस प्रकार आनन्द के जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि वास्तविक मनुष्यता अपने आप में सीमित हो रहने में नहीं है। सच्ची मनुष्यता का विकास तभी होता है जब मनुष्य अपने आपको प्राणीमात्र में बिखेर देता है। जीवन की यही विशाल दृष्टि सच्ची धार्मिकता को जन्म देती है। और आनन्द अपनी इस विशाल दृष्टि के कारण ही प्रथम अवसर के प्राप्त होते ही धर्म की ओर मुड़ गया।

आनन्द का हृदय कितना विशाल था, शास्त्रकार अत्यन्त कौशल के साथ इस तथ्य का विवरण हमारे सामने रखते हैं। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि आनन्द अपना अथवा अपने परिवार का ही नहीं था; सारा वाणिज्यग्राम नगर और उससे बाहर दूर-दूर तक का मानव-समूह उसके लिए अपना था। सबके प्रति उसकी आत्मीयता थी और सभी जनता उसे अपना समझती थी। उसके विषय में कहा गया है :—

'से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर० जाव सत्थ वाहाणं बहुसु कज्जेसु, कारणेसु, मंतेसु, कुडुम्बेसु, गुज्झेसु य, रहस्सेसु य, निच्छएसु य, ववहारेसु य, आपुच्छणिज्जे, सयस्स वि कुडुम्बस्स मेढ़ी, पमाणं, आहारे, आलम्बणे, चक्खू, मेढिभूए जाव सव्वकज्ज वड्ढावणए यावि होत्था।

इस वर्णन से आनन्द के आन्तरिक जीवन का भली भांति परिचय मिल जाता है। इससे यह पता भी चल जाता है कि गृहस्थ को श्रावक बनने से पहले अपने जीवन को किस भूमिका तक ऊँचा उठाना चाहिये और अपने अन्तःकरण को कितना विशाल बनाना चाहिये।

आज श्रावकपन भी एक साधारण-सी वस्तु बन गई है—जैसे नकली मोती, नकली सोना, नकली दूध, घी, चावल, आदि के आविष्कार ने इन वस्तुओं की असलियत को भुला-सा दिया है। उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी नकली सम्यक्त्व और नकली श्रावकत्व ने असलियत को हमारी आँखों से ओझल कर दिया है। जैसे—ब्राह्मण आदि वर्ण कर्म पर निर्भर थे, किन्तु धीरे-धीरे उनका संबंध जन्म के साथ जुड़ गया और कर्म चाहे चाण्डाल के ही क्यों न हों, ब्राह्मण की सन्तान होने से ही व्यक्ति ब्राह्मण माना जाने लगा है, उसी प्रकार शुद्ध समीचीन दृष्टि का उन्मेष हुए बिना ही और श्रावक के वास्तविक गुणों का विकास हुए बिना ही आज जैन परिवार में जन्म लेने से ही मनुष्य 'सम्यक्ति' एवं 'श्रावक' कहलाने लगता है! इस प्रकार जब अनायास ही सम्यग्दृष्टि और श्रावक की उपाधियाँ मिल सकती हों तो कौन उनके लिए महँगा मूल्य चुकाने का प्रयत्न करेगा?

जैन शास्त्रों में श्रावक का दर्जा बहुत ऊँचा माना गया है। इस दर्जे को प्राप्त करने से पहले अनेक सद्गुण प्राप्त करने

पड़ते हैं। उन सद्गुणों को हमारे यहाँ विभिन्न शब्दों में बतलाया गया है। वे मार्गानुसारी के पैंतीस गुण कहलाते हैं। जैन-साहित्य में इन गुणों का अच्छा खासा विवरण मिलता है। अपने व्यावहारिक जीवन में उन गुणों को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही सच्चा श्रावक कहलाने का अधिकारी होता है।

खेत में बीज बोने से पहले उसे जोत कर योग्य बनाया जाता है। उसमें पानी का सिंचन भी किया जाता है। तभी उसमें से लहलहाते अँकुर निकलते हैं और धान्य का समुचित परिपाक होता है। यही बात जीवन में धार्मिकता के अँकुर उगाने के सम्बन्ध में भी है। जीवन को धर्ममय बनाने से पहले नीतिमय बनाना अनिवार्य है। नैतिकता के अभाव में धार्मिकता का प्रदर्शन किया जा सकता है, धार्मिकता प्राप्त नहीं की जा सकती।

आनन्द अत्यन्त नीतिनिष्ठ, प्रामाणिक, विश्वासपात्र और उदार था। राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार से लगाकर साधारण प्रजा का उस पर पूर्ण विश्वास था। सार्वजनिक कार्यों में तो उससे परामर्श किया ही जाता था, घरेलू कामों के विषय में भी अनेक व्यक्ति उसकी सम्मति मांगा करते थे। जो विचार या कार्य गृहस्थी में अत्यन्त गोपनीय समझे जाते हैं और जिनका प्रकट करना अकीर्तिकर माना जाता है, उनके विषय में भी आनन्द से परामर्श करने में किसी को

संकोच नहीं होता था। वह राजा और रंक सभी के लिये प्रमाणभूत था, आधार था, पथ-प्रदर्शक था। इसीलिए वाणिज्य ग्राम की सारी जनता उसी के इर्दगिर्द चक्कर काटती रहती थी। उसकी सलाह के बिना नगर के किसी भी कौने में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं होता था।

तो, सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इस प्रकार की स्थिति कब उत्पन्न हो सकती है? अगर आनन्द जनता को अपना कुटुम्ब न समझता, उस पर अपनी सद्भावनाओं के पावन प्रसून न बरसाता तो कौन उसे अपना सर्वस्व मानता? वह प्रत्येक व्यक्ति को सदैव सच्ची सलाह दिया करता था अपने समक्ष प्रकट की हुई किसी की गोपनीय बात को दूसरों के सामने प्रकट नहीं करता था। उसका हृदय सागर के समान गम्भीर न होता तो अपने कुटुम्ब का कलङ्क कौन उसके सामने प्रकट करता? कौन उसे धो डालने के लिये परामर्श करता? किन्तु जनता को विश्वास था कि आनन्द के कानों में पड़ी हुई बात कहीं बाहर नहीं जाएगी। इस विश्वास के बल पर लोग निःसंकोच भाव से उसके पास आते थे, ठीक उसी तरह जिस तरह साधक शिष्य, अपने गुरु के समक्ष अपने रत्ती-रत्ती दोषों को प्रकाशित कर देता है। लोग अपनी गुप्त से गुप्त बात को भी उसके समक्ष प्रकाशित कर देते थे। और आनन्द उनका उचित रूप से मार्ग-प्रदर्शन करता था।

साधारणतया लोग दूसरों के छिद्रों के प्रति अतिशय

सजग रहते हैं और किसी की कोई बुराई मिल गई तो उल्लसित होते हैं, मानों उन्हें कोई धन का भण्डार मिल गया हो! गंदगी का कीड़ा जैसे गंदगी पाकर अपार हर्ष का अनुभव करता है, उसी प्रकार लोग परकीय छिद्रों को खोजकर आनंद का अनुभव करते हैं और अपनी खोज को सर्व-साधारण में इस प्रकार फैलाते हैं, जैसे उन्होंने मानो अपूर्व और अद्भुत वस्तु खोज निकाली हो।

कई लोग तो इतने कलुषित विचारों के होते हैं कि दूसरों में असत् दोषों का आरोपण करने में भी संकोच नहीं करते! मगर जो श्रावक बनने की भूमिका तैयार कर रहा हो, वह ऐसा कदापि नहीं करेगा और जो श्रावक बन चुका है, उसकी तो दृष्टि ही गुणमयी बन जाती है! वह अपनी पैनी नजर से दोषों के वज्र-पटल को भेद कर भी गुणों को ही देखता है।

आनन्द अभी तक श्रावक नहीं बना था। श्रावक बनने की कल्पना भी तब तक उसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुई थी। फिर भी सहज रूप में उसके जीवन का इतना विकास हो चुका था—कि वह श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित होते ही साधक की कोटि में पहुँच गया।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
१६-८-५४

गोपालक आनन्द

यह श्री उपासकदशांगसूत्र है और आनन्द का जीवन आपके सामने है। भगवान महावीर के समय में आनन्द आपके समान ही एक गृहस्थ था। एक गृहस्थ के जो कुछ भी होता है—उसके भी पुत्र, पत्नी, कुटुम्ब-परिवार आदि सभी-कुछ था। भगवान् की शरण में आजाने पर भी वह जीवन-पर्यन्त श्रावक ही बना रहा, साधु का जीवन उसने अंगीकार न किया, परन्तु श्रावक के रूप में रहकर जो उसने साधना की, उस साधना ने उसके लिए महामंगल का द्वार खोल दिया। उसकी साधना का पथ क्या था यह तो आगे आपके समक्ष आयेगा ही, परन्तु पहिले यह बतला देना

आवश्यक प्रतीत होता है कि उसकी साधना की आधार भूमिका क्या थी !

आपको संक्षेप में बतलाया जा चुका है कि आनन्द का जीवन क्षुद्र परिधि से आवृत नहीं था। जीवन की क्षुद्रपरिधि में घिरा रहने वाला मनुष्य शाश्वत सुख और अखण्ड शान्ति का मार्ग नहीं पा सकता। सुख और शान्ति का मार्ग मानवोचित विशाल भावनाओं से निर्मित होता है। हमारे यहाँ कहा गया है:—

आत्मौपम्येन सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति।

अर्थात्—जो वस्तु, जो बात और जो व्यवहार आप अपने लिए चाहते हैं; वही वस्तु आप दूसरों को भी दीजिये, वही बात आप दूसरों से भी कहिये और वही व्यवहार आप दूसरों के साथ भी कीजिये। यही ज्ञानी का प्रधान लक्षण है।

आप तो संसार के सभी प्रकार के सुखों का भोग कर रहे हैं और आपका दुखी पड़ौसी उसमें से कुछ भी नहीं पा रहा है। आपकी हवेली में रेडियो-संगीत की सुमधुर ध्वनि गूँज रही है, और आपके पड़ौस की झौंपड़ियों में हाहाकार और चीत्कार मचा है, मगर आप अपने सुख के संगीत में इस क़दर डूबे हैं कि अपने दुखी पड़ौसी के चीत्कार की ओर बिल-कुल ध्यान ही नहीं दे रहे, उसे सुनना भी पसंद नहीं कर रहे—सान्त्वना के दो शब्द कहना तो दरकिनार—उल्टे आप अपने रौब से उसे बन्द करना चाहें—तो, मैं पूछता हूँ

आपकी क्या यही इंसानियत है? आपकी इंसानियत का क्या यही तकाजा है? वास्तव में, जैन-धर्म अहिंसा के रूप में मनुष्यता के इसी सन्देश को लेकर आपके सम्मुख उपस्थित है। और संसार के अन्य धर्म भी अपने प्रेम के सन्देश में आपसे मनुष्यता की यही बात कह रहे हैं। संसार के सभी महापुरुषों ने अब तक इस एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और वही नाना शास्त्रों के रूप में जनता के सामने है। क्या वेद, क्या उपनिषद्, क्या पुराण और क्या आगम और क्या दूसरे धर्म-शास्त्र, सब का निचोड़ इस संबंध में एक ही है। सभी शास्त्रों में से एक ही ध्वनि सुनाई देती है।

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वाचैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।

सब धर्मों को सुनो और उनके सार को अपने मन में रक्खो। तुमने धर्म को सुना और सुन कर रह गए और जीवन में ग्रहण नहीं कर सके, तो उस सुनने का कोई मूल्य नहीं है। धर्म को सुन कर सब बातें स्मरण नहीं रख सकते तो न सही। उसका जो सार है, निचोड़ है और मन में रख लेने योग्य जो अंश है, उसे तो अपने मन में रख ही लो; अवसर मिलने पर उसे अपने व्यवहार में उतारो। धर्मों का वह सार या निचोड़ क्या है? वह यही कि जो बातें और जो व्यवहार तुम अपने लिए अनुकूल नहीं समझते, वैसा वह व्यवहार दूसरों के प्रति भी मत करो।

दूसरे लोग तुम्हारे प्रति जब प्रतिकूल व्यवहार करते हैं तो तुम्हें पीड़ा होती है। कोई तुम्हें पददलित करता है तो तुम वेदना का अनुभव करते हो। तो वैसा व्यवहार तुम दूसरों के प्रति मत करो। दूसरों के व्यवहार से जैसे तुम्हें पीड़ा हुई, वैसे ही तुम्हारे व्यवहार से दूसरों को भी पीड़ा होना स्वाभाविक है।

एक मनुष्य के प्रति दूसरे मनुष्य की यह जो नीति है, उसे चाहे अहिंसा कह लीजिए, दया कह लीजिए या इंसानियत कह लीजिए, यही मानवता की पहली सीढ़ी है।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार है, उसके उस व्यवहार में कड़वापन है या मिठास है, यही हिंसा और अहिंसा की कसौटी है। यदि व्यवहार में कटुता है और हिंसा का तांडव-नृत्य है तो वहाँ मानवता के पनपने के लिए कोई भूमिका नहीं है। जहाँ राक्षसी भावनाओं का वातावरण है, जहाँ एक दूसरे को चूसना, लूटना, दबोचना और पददलित करना ही केवल विद्यमान है, वहाँ अहिंसा कहाँ रहेगी? और मानवता के दर्शन कैसे हो सकेंगे?

हे मनुष्य! जैसे तुझे अपना सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी अपना सुख प्रिय है। तू सुख चाहता है तो दूसरों को सुख दे। सुख देगा तो सुख पाएगा—

सुख दीधां सुख होत है, दुख दीधां दुख होय।

यह अनुभव-सिद्ध बात है। इसके लिए शास्त्रों को टटोलने

की आवश्यकता नहीं है। मानव-शास्त्र-अन्तर्मन के द्वारा ही देखा और समझा जाता है।

तो, मनुष्य को सोचना चाहिये कि मैं जो चेष्टायें कर रहा हूँ, आस-पास में उनकी प्रतिक्रिया कैसी होगी? मेरे मन की हरकतों से दूसरों को आनन्द मिलेगा या वे दुख के क्लेश के अथाह सागर में डूब जायेंगे

मनुष्य का मनुष्य के प्रति भाई जैसा सहानुभूति और प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये। मगर आज तो भाई का भाई के प्रति सद्व्यवहार होना भी बड़ी बात समझी जाती है; परन्तु वास्तव में, यह बड़ी बात है नहीं। बड़ी बात है, अपने पड़ौसियों के साथ सद्व्यवहार होना और जिन्हें दूर का समझा जाता है, उनके प्रति भी सहानुभूति रखना।

मानव जाति का पड़ौसी कौन है? मनुष्य का पड़ौसी नारकी नहीं है और देवता भी नहीं है; उसका संन्निकटतर पड़ौसी है, पशु-जगत्। आज तक मनुष्य ने जो विकास और प्रगति की है, जिन सुख-सुविधाओं को हासिल किया है, और इस दर्जे तक पहुँचा है, उसमें मनुष्य का पुरुषार्थ तो है ही, परन्तु पशुओं का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मनुष्यों की सभ्यता की अभिवृद्धि में पशुओं का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। पशु अनादिकाल से मानव जाति के सहयोगी और सहायक रहे हैं। परन्तु उनके सहयोग के मूल्य को आज हम भूल से गये हैं।

भारतवर्ष के इतिहास को देखिये। हमारे पूर्वजों ने जो कुछ भी किया है, वह क्या अकेले ही उन्होंने कर लिया है? क्या अकेले इन्सान की बदौलत ही आज मानव-जाति सभ्यता की इस सीढ़ी पर पहुँची है? क्या उसमें पशुओं का कोई हिस्सा नहीं है? और इन प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि मनुष्य की इस उन्नति में पशुओं ने मनुष्य की बहुत अधिक सहायता की है। मानव-जाति की उन्नति का इतिहास इस बात का साक्षी है।

मनुष्य अपनी माता का दूध पीता है और थोड़े समय पीकर छोड़ देता है। फिर गौमाता या अन्य दुधारू जानवरों का दूध पीना शुरू कर देता है। हमारे शरीर में आज दूध से बनी हुई रक्त की जितनी भी बूँदें हैं, उनका अधिकांश गाय, भैंस, बकरी आदि पशुओं के दूध से ही बना है। अगर आप गम्भीरता-पूर्वक विचारें तो निस्सन्देह जान सकेंगे कि पशुओं के दूध से बनी रक्त की बूँदें ही ज्यादा हैं। मनुष्य माता का दूध तो अत्यल्प काल तक ही पीता है, पर गोमाता के दूध की धार तो मृत्यु की अन्तिम घड़ियों तक उसके मुँह में जाती रहती है! और इसी कृतज्ञता से गद्गद होकर पूर्वजों ने कहा है—

गौर्मे माता, वृषभः पिता मे।

गाय मेरी माता है और बैल मेरा पिता है।

आप अपने चित्त को शान्त करके विचार करेंगे तो मालूम

होगा कि यह भावनायें केवल लिखने के लिये ही नहीं लिखी गई हैं। यह बातें जनता के मनोरंजन के लिये भी नहीं कही गई हैं। इन शब्दों के पीछे पूर्वजों की उदार भावनायें काम कर रही हैं। गौ-माता का जो हमारे ऊपर उपकार है उसको प्रकट करने के लिये ही, कृतज्ञता के वशीभूत हो हमारे महान् पूर्वज ने एक दिन यह बात कही थी। फिर, सभी ने उसकी इस बात को स्वीकार किया—तो, जब इतने बड़े दार्शनिक और विचारक कहने को तैयार हुए, कि गाय हमारी माता है, तो यह कोई साधारण बात नहीं है। समझा जा सकता है; गाय को माता के पद पर पहुँचाने वालों में कितनी कृतज्ञता और कितनी उदारता होगी। उन्होंने बड़े ही गम्भीर भाव से यह बात कही है। जिसके मुख से यह महान् वाक्य निकला है, उसके हृदय में गौमाता के प्रति कितना गहरा प्रेम उमड़ा होगा?

प्राचीन काल में भारतवर्ष में पशुओं के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार किया जाता था और अत्यन्त सहानुभूति के साथ उनका पालन-पोषण। आनन्द श्रावक की ही बात लीजिए। उसको अपने समय का एक बड़ा गोपालक कहा जा सकता है। वह चालीस हजार गायों का अकेला पालन-पोषण किया करता था—तो, अगर उस नगर के अन्य सब नागरिकों के पास वाली गायों की संख्या इससे दुगनी या चौगुनी मानली जाय तो उस समय भारत के एक ही नगर में गायों की

संख्या लाखों पर पहुँचती है। जिस नगर में इतनी प्रचुर संख्या में गायें हों, वहाँ की सुख-समृद्धि की कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। वहाँ के निवासियों को दूध और दही की क्या कमी रह सकती है। अमृत की धाराएँ बहती होंगी वहाँ! दूध की गङ्गा बहती होगी और लोगों को जीवन-रस मिलता होगा! वहाँ के लोग क्या आज की तरह दूध की एक-एक बूँद के लिए तरसते होंगे?

नहीं—स्वप्न में भी नहीं। मगर प्रश्न हो सकता है कि आनन्द ने गायों की इतनी बड़ी फौज किस लिए रख छोड़ी थी? आनन्द कोई दैत्य तो नहीं था कि चालीस हजार गायों का दूध स्वयं गटक जाता हो। चालीस हजार में से बीस हजार गायें तो नित्य प्रति दूध देती ही होंगी और उनके दूध का औसत यदि दो सेर भी समझ लिया जाय तो एक हजार मन दूध सुबह में और इतना ही शाम को होता होगा। तो, क्या आनन्द का छोटा सा परिवार प्रति दिन दो हजार मन दूध पी जाता होगा? और इस प्रश्न के उत्तर में प्रत्येक आदमी कहेगा—नहीं! यह असम्भव है।

तो फिर किस लिए आनन्द ने इतनी बड़ी गोशाला बनाई थी? आज के लोगों की जो मनोदशा है, उसे देखते हुए इस प्रश्न के उत्तर पर उन्हें शायद विश्वास ही न हो। जो लोग अपने माता-पिता का, उनकी वृद्धावस्था में, पालन-पोषण करना भी नागवारी समझते हैं, जो अपने घर की विधवा को

खिलाना-पिलाना भी भार समझते हैं और जो अपने सहोदर भाई की सन्तान का भी बोझ नहीं उठाना चाहते, उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करना चाहते तो, उन्हें किस प्रकार समझाया जाय कि आनन्द चालीस हजार गायों के प्रति, उनके द्वारा गोमाता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किया करता था। उसके अन्तःकारण में करुणा और दया की जो भावना थी, उसे सफल करने और उसे क्रियात्मक रूप देने का उसका यह तरीका कितना सुन्दर था। वास्तव में, आनन्द की दया का प्रवाह मानव जाति तक ही सीमित न रहकर पशु-जगत तक बह गया था और यह एक ऐसा तरीका था कि जिसके द्वारा पशुओं की दया के रूप में मनुष्यों की दया अपने आप ही पल जाती थी। आखिर, उसके यहाँ दूध और दही की जो धाराएँ बहती थीं, उसका उपयोग तो नगर के छोटे-बड़े सभी मनुष्य करते होंगे। और इस प्रकार आनन्द गोपालन करके पशुओं के प्रति भी और मनुष्यों के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पालन करता था।

आनन्द की गोशाला, गोशाला ही नहीं, दया और करुणा का सबक सीखने के लिए एक पाठशाला थी। उस गोशाला से आनन्द दया की भावना को पुष्ट किया करता था।

अगर अकेले आनन्द श्रावक के यहाँ ही इतनी बड़ी गायों की संख्या होती तो कोई यह कल्पना भी कर सकता था कि उसे गोपालन का शौक रहा होगा और इससे दया एवं

करुणा का कोई साक्षात संबंध नहीं है। किन्तु इस सूत्र में वर्णित सभी श्रावकों के यहाँ हम यही बात देखते हैं। किसी के यहाँ चालीस हजार गायें पाली जा रही थीं तो किसी के यहाँ साठ हजार! और किसी के यहाँ अरसी हजार गायों का पालन किया जाता था। आनन्द और दूसरे श्रावक जब परिग्रह का परिमाण करते हैं, तब भी गायों की संख्या कम नहीं कर लेते; बल्कि उन्हें उतनी की उतनी ही रख छोड़ते हैं। तो यह सब बातें मिलकर तथ्यपूर्ण जिस बात की ओर संकेत करती हैं, वह है—एक मनुष्य का पशुओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण व्यवहार! हमें अपने अन्तःकरण की ज्योति-स्वरूपा दया को पालने के लिये अपने चारों ओर किस प्रकार का वातावरण बना लेना चाहिये-उसका सफल निर्देश! तो अब यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्य पशुओं को अपना सहयोगी समझे और उनके प्रति सद्व्यवहार करे। आज अन्न का एक-एक दाना, सोने के दाने से भी अधिक मूल्यवान है। सोने का ढेर पड़ा है और अन्न का दाना नहीं है, तो क्या सोना चबाकर प्राणों की रक्षा की जा सकती है? अन्न का दाना बड़े बड़े राजमहलों से लेकर झोंपड़ियों तक उपयोगी है। राजा और भिखारी का जीवन अन्न पर निर्भर है। ऋषियों ने कहा है—

अन्नं वै प्राणाः।

अर्थात—अन्नं ही प्राण है।

और किस धर्म का अनुयायी नहीं कहता कि गहनों के बिना काम चल सकता है, कपड़ों के बिना और मकान के बिना भी प्राणों की रक्षा की जा-सकती है, किन्तु पेट में अन्न डाले बिना काम नहीं चल सकता।

आज देश के सामने अन्न का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है और यह प्रश्न गायों और बैलों की सहायता के बिना हल नहीं हो सकता। अन्न उत्पन्न करने में पशु मनुष्य के सहायक रहे हैं और आज भी वही सहायता कर रहे हैं। एक-एक अन्न का दाना गो-पुत्र ने दिया है।

ट्रेक्टर अब आए हैं और संभव है कि भारतीय कृषि-व्यवस्था में वह उपयोगी हों! विशाल ट्रेक्टर बड़े पैमाने पर मिट्टी को खोद कर फैंक देते हैं, किन्तु भारतीय किसानों के पास छोटे-छोटे खेत हैं। तो हमारे देश में बैलों से ही खेती की जाती है। बैल ही अन्न के ढेर पैदा करते हैं और उस ढेर को घर तक पहुँचाने में मनुष्य के संगी-साथी बनते हैं।

इतनी महत्वपूर्ण सहायता के बदले में बैलों ने क्या चाहा है? अन्नोत्पादन में मनुष्य की अपेक्षा अधिक महनत उठाकर भी वे अन्न में साझा नहीं चाहते। वे ऐसे उदार साझीदार हैं कि जो कुछ भी आप उन्हें दे देते हैं उसी को सन्तोष से खा लेते हैं।

गायें भारतीय घरों के आँगन की शोभा रही हैं। भारत की संस्कृति में गाय को बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जब किसी को ऊँट पर सवार होकर जाते देखते हैं तो अरब की संस्कृति याद आ जाती है। ऊँट अरब की संस्कृति का जीता-जागता प्रतीक है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रतीक गाय है। हरा-भरा वातावरण है, लहराता हुआ खेत है, गायें हैं, झोंपड़ी है और किसान के बाल-बच्चे खेल रहे हैं। यह भारतीय संस्कृति का रूप है। यह धर्मका प्रश्न नहीं, संस्कृति का प्रश्न है। जाति का प्रश्न है और इन्सानियत का प्रश्न है। गाय का प्रश्न मानव-जीवन का प्रश्न है।

कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो उलझ गये हैं। एक प्रश्न हमारे सामने आया है, गाय को हल में जोता जाय तो क्या हानि है ? वह दूध भी देती रहे और हल भी जोतती रहे। हल में जुतने पर भी उसके दूध देने की मात्रा में कोई कमी नहीं होगी। वैज्ञानिकों ने परीक्षण करके देख लिया है।

मैं कहता हूँ—दूध कम होगा या नहीं, यह प्रश्न नहीं है; प्रश्न तो भावना का है। गाय के प्रति भारत की जो भावना है, वह ऐसा करने के लिए इजाजत देती है या नहीं ? किसी नारी को दुह लेना जैसे भारत में असह्य समझा जायगा, उसी प्रकार गायों को हल में जोतना भी असह्य समझा जायगा। ऐसा करने से कोटि-कोटि मनुष्यों की

भावना को ठेस पहुँचेगी और भारत का घोर सांस्कृतिक पतन होगा।

जब जोतनेके लिए बैल मौजूद हैं तो फिर गायोंको जोतने की क्यों आवश्यकता महसूस होती है? यह तो संभव नहीं कि गायें रहें किन्तु उनसे बछड़े न पैदा हों और वे बड़े होकर बैल न बनें। गायें होंगी तो बैल होंगे ही। अगर बैलों का काम गाय से लिया जाने लगा तो बैल क्या काम आएँगे। फिर तो उन्हें मार डालने का ही रास्ता निश्चित किया जायगा।

तात्पर्य यह है कि गाय दूध देकर, गोबर देकर और बछड़ा-बछड़ी देकर गृहस्थ को बहुत-कुछ दे जाती है। उसके इतने दान से भी सन्तुष्ट न होना और उसे हल में जोतने की बात कहना असांस्कृतिक है और निर्दयता भी है और इससे बैलों की हत्या का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। अतएव यह विचार अनुमोदनीय नहीं है।

दूसरा प्रश्न बंदरों का है। आजतक भारत ने पशुओं को अपने संगी-साथी के रूप मेंही स्वीकार नहीं किया है, वरन् उन्हें अपना देवी-देवता भी बनालिया है। देवी-देवता बनाकर भारत ने क्या सोचा है, यह बात आज नहीं कहनी है। पर बंदरों को भारत ने हनुमान जी का वंशज माना है। लोग हर मंगलवार को, चाहे अपने लड़कों का मुँह मीठा न करें, परन्तु बंदरों को कुछ न कुछ प्रसाद अवश्य डालेंगे।

और यह भारतीय ही हैं जो साँप जैसे प्राणियों को भी

दूध पिलाते रहे हैं। जो सर्प दूध पीकर भी जहर ही उगलता है अमृत नहीं, उसे भी श्रद्धापूर्वक दूध पिलाना भारतीय भावना की विशेषता है।

आखिर इन सब परिपाटियों का रहस्य क्या है ? रहस्य यही है कि मनुष्य क्रमशः अपनी दया का और अपने प्रेम का विस्तार करता जाय और मनुष्य जगत् से भी उन्हें आगे ले जाय और सर्प जैसे विषधर पर भी अपनी करुणा का अमृत छिड़के।

आज लोग इस उदार भावना को कितने अंशों में ग्रहण करते हैं और रूढ़ि की गुलामी कितनी करते हैं, यह अलग प्रश्न है। हमें तो असलियत की ओर ही जाना चाहिये। आनन्द के जीवन पर गम्भीरता के साथ विचार करेंगे तो आपको जीवन की सच्ची दृष्टि प्राप्त हो सकेगी।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२०-८-५०

प्रभु का पदार्पण

उपासकदशांगसूत्र में गृहस्थ-जीवन की जिस महत्त्वपूर्ण झाँकी को चित्रित किया गया है, वह प्रत्येक गृहस्थ के लिये अनुकरणीय, जीवनोपयोगी एवं लाभकारी है। इस सूत्र के प्रारम्भ में सुधर्मा स्वामी ने जिस आनन्द नामक श्रावक के निर्मल चरित्र का चित्रण किया है, वह एक ऐसा व्यक्ति है, जो करोड़ों का स्वामी होने पर भी स्वभावतः दयालु, शिष्ट और कृपालु है। तो, यह समझ लेना तो भारी भूल होगी कि सुधर्मा स्वामी ने आनन्द का जो वर्णन किया है, वह इसलिए किया है कि उसके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। अपने नगर और समाज में उसकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा थी। वास्तव में,

आनन्द को शास्त्र में जो महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, उसका कारण उसकी कोई लौकिक सफलता या बड़प्पन नहीं, बल्कि उसका कारण है, भोग की दुनियाँ में बैठ कर भी चारों ओर से भोग-विलास के उस समुद्र को पार करते हुए अपने जीवन को ऊँचा बनाना। आनन्द ने अपने जीवन में एक चमक पैदा की-एक रोशनी जलाई और उसी के उजाले में उसने अपने जीवन की यात्रा तय की।

आनन्द के जीवन की चमक पच्चीस सौ वर्षों के बाद आज भी हमें मिल रही है। पच्चीस सौ वर्ष कुछ थोड़े नहीं हैं। कहने में तो जल्दी कहे जाते हैं, किन्तु गिनने में बहुत हैं।

इन पिछले पच्चीस सौ वर्षों में कितनी राज्य-क्रान्तियाँ हुई, कितने इनक़लाब आये, कितने ही राज्य इधर के उधर हो गए, कितने ही सोने के सिंहासन मिट्टी में मिल गये, मगर इन जीवनियों पर काल का कोई असर न हुआ और राज्य क्रान्तियाँ भी उन पर अपना कोई प्रभाव न डाल सकीं।

वास्तव में, आनन्द का जीवन-कमल तो तब खिलता है, जब प्रकाश-पुंज श्रमण भगवान् महावीर का वाणिज्यग्राम में पदार्पण होता है। मूल पाठ में भगवान् का 'समणे भगवं महावीरे' शब्दों से उल्लेख किया गया है। सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि महावीर से पहले जब 'भगवान्' विशेषण लगा दिया गया है, तब उससे भी पहले 'श्रमण' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी? महावीर तो महावीर के नाम से

ही विख्यात हैं और आदर सूचक विशेषण 'भगवान्' भी उनके नाम के आगे लगा हुआ है। साथ ही हनुमान जी, जो महावीर के नाम से जगत में प्रसिद्ध हैं, और चौवीसवें तीर्थंकर महावीर में अन्तर स्पष्ट करने के लिये जब यह अकेला विशेषण ही पर्याप्त है, तब इस विशिष्टता-द्योतक विशेषण के होते हुए भी 'श्रमण' जैसे सामान्य विशेषण को उनके नाम के आगे जोड़ने की ऐसी क्या विशेष आवश्यकता प्रतीत हुई? जिसने भगवान् का पद पा लिया, उसके लिये 'श्रमण' जैसा सामान्य विशेषण प्रयोग में लाने की क्या आवश्यकता है ?

इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि भारतवर्ष के दर्शन शास्त्रों में भगवान् के संबन्ध में अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं। कई दर्शन मानते हैं कि भगवान् या ईश्वर नित्य-मुक्त होता है। अर्थात् जो भगवान् हैं वह सदा से ही भगवान् हैं। कोई भी आत्मा कितनी ही ऊँची साधना क्यों न करे, वह परमात्मा या ईश्वर का पद प्राप्त नहीं कर सकती। परमात्मा की जाति आत्मा से निराली है। जैसे जड़ कभी चेतन नहीं बन सकता, उसी प्रकार लाख-लाख प्रयत्न करके और जन्म जन्मान्तर में साधनाएँ करके भी आत्मा ईश्वर नहीं बन सकती। साधना का फल मुक्ति है, ईश्वरत्व नहीं। और जो ईश्वर है, उसे कभी कोई साधना नहीं करनी पड़ी। वह बिना ही साधना के सदा से ईश्वर है।

अभिप्राय यह है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा

सदा आत्मा ही रहने वाली है और ईश्वरत्व को प्राप्त करना उसके वश में नहीं है।

जैनधर्म इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करता। जैनधर्म के अनुसार ईश्वरत्व किसी एक व्यक्ति के लिये 'रिज़र्व' नहीं है। ईश्वरत्व एक पद है और अपनी योग्यता का विकास करके प्रत्येक आत्मा उसे पाने की अधिकारिणी है। जैनधर्म ने बिना किसी प्रकार का भेद किये, प्रत्येक आत्मा को ईश्वरत्व की प्राप्ति का अधिकार दिया है।

जैन-दर्शन की यह विशिष्ट मान्यता यहाँ 'श्रमण' विशेषण से ध्वनित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि महावीर ने भगवान् का पद श्रमणत्व के द्वारा प्राप्त किया, साधना के द्वारा प्राप्त किया, वे सनातन ईश्वर नहीं, साधनाजनित ईश्वर या भगवान् थे।

कहने को तो जैन लोग भी कहते हैं कि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान महावीर का जन्म हुआ, किन्तु ऐसा कहना एक अपेक्षा-मात्र है। जैनदर्शन की गहराई में उतरें और तथ्य को खोजने चलें तो प्रतीत होगा कि उस दिन केवल महावीर का जन्म हुआ, भगवान् महावीर का जन्म नहीं। भगवान् का जन्म तो तब हुआ, जब महावीर को भगवत्-दशा प्राप्त हुई, अर्थात केवल दर्शन और केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। वह तिथि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी नहीं, वैशाख शुक्ला दशमी थी।

सार यह है कि जैनधर्म के अनुसार श्रमण होने के बाद ही भगवान् बना जा सकता है। भगवान् के 'श्रमण' विशेषण से यही तथ्य सूचित किया गया है।

महावीर स्वामी साधु बने और साधु बने तो भेष बदलने वाले साधु नहीं, जीवन बदलने वाले साधु बने। उन्होंने सोने के महलों को छोड़ा तो फिर पल भर के लिए भी उनकी ओर नहीं झाँका। वे संसार के सर्वोत्तम वैभव को ठुकरा कर आगे आये। तीस वर्ष तक का जीवन उन्होंने गृहस्थावस्था में बिताया, पर जब उसका त्याग किया तो सर्वतोभावेन त्याग किया। उन्होंने अपने जीवन के लिए जो राह चुनी, उस पर अग्रसर होते ही चले गये, पल-पल आगे ही बढ़ते गए। वह अपने जीवन का विकास करने के लिए अपने विकारों और अपनी वासनाओं से लड़े और ऐसे लड़े कि उन्हें खदेड़ कर ही, दूर हटाकर ही दम लिया। उन्होंने जीवन की दुर्बलताओं को और बुराइयों को चुनौती दी और उन्हें पराजित भी किया। केवल ज्ञान और केवल दर्शन पाया और तब भगवान् का महान् पद भी प्राप्त किया। उन्हें भगवत्तेज की प्राप्ति हुई।

श्रमण बनने के बाद और कैवल्य प्राप्ति से पूर्व की भगवान् महावीर की साधना की कहानी बड़ी ही रोमांचकारिणी है। उसका आभास हमें शास्त्रों से मिलता है। जब हम उसे पढ़ते हैं तो हृदय सन्न रह जाता है। जिन कथाओं, परीषदों और उपसर्गों के पढ़ने मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं,

उन सब को उस महान आत्मा ने असाधारण दृढ़ता के साथ सहन किया। देवों, मनुष्यों और पशुओं द्वारा पहुँचाई गई कोई भी पीड़ा उन्हें अपनी साधना से विरत न कर सकी। यही क्यों, कहना यों चाहिये कि ज्यों-ज्यों बाधाएँ और पीड़ाएँ उनके समीप आई तो उन पीड़ाओं और बाधाओं के रूप में उन्होंने अपनी सिद्धि सन्निकट आई समझी, उन्हें उतना ही बल प्राप्त होता गया।

हम थोड़ी देर ध्यान लगाते हैं, दो चार 'लोगस्स' की बात जाने दीजिये, एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं और उपसर्ग करने वाले कोई भूत, प्रेत, सिंह या भालू नहीं; किन्तु मच्छर आते हैं, और वे मच्छर कुछ हमें समूचा निगलने के लिये नहीं आते, केवल एक बूँद रक्त की पाने और अपनी भूख मिटाने के लिये आते हैं। मगर ज्योंही मच्छर का डंक हमारे शरीर में लगता है कि हम लोगस्स का ध्यान करना ही भूल जाते हैं और चमड़ी सिकोड़ने लगते हैं! सारा चिन्तन ऊपर आ जाता है और जल्दी-जल्दी पाठ बोलने लगते हैं! कितना क्षुद्रकाय बेचारा मच्छर, हाथ की उँगली लग जाय तो प्राण छोड़ दे। पूँजनी दया के लिये है और उसे जल्दी से फेर दिया जाय तो भी मर जाय। इतने तुच्छ प्राणी के दंश को भी हम सहन नहीं कर सकते। यह दशा हमारी है।

और उस महान् आत्मा को संगम जैसे देवता डिगाने आये। और वह भी चुनौती लेकर आए, संकल्प करके आए

कि डिगाएँगे, विना डिगाए नहीं रहेंगे, जरूर पथभ्रष्ट करेंगे। पथभ्रष्ट करके ही रहेंगे। किन्तु छह-छह महीने के दारुण संघर्ष के पश्चात् अन्त में उस विराट् आत्मा के सम्मुख देवता को झख मार कर हार स्वीकार करनी पड़ी और वह महान् आत्मा विचलित नहीं हुई। महावीर जिस राह पर चल रहे थे, उससे एक क़दम भी न मुड़े और पीछे मुड़ कर भी उन्होंने न देखा।

फिर भी क्या उपसर्ग वन्द हो गए ? नहीं, वह वरावर जारी रहे और महावीर की प्रगति भी ज्यों की त्यों जारी रही।

देवता नमस्कार करने को आए, तव भी उन्होंने नहीं देखा। इन्द्रों के मुकुट उनके चरणों में झुके, तव भी वे नहीं रुके और निरन्तर अविश्रान्त गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही चले गये।

उन्हें न निन्दा रोक सकी, न प्रशंसा रोक सकी। न शोक और न दुःख रोक सके। आपत्तियाँ आई, संकट भी आए, पर किसी से उनकी गति अवरुद्ध न हो सकी।

इस प्रकार सत्कार, तिरस्कार, निन्दा, प्रशंसा, शोक और दुःखों की आग में से पार होकर उस महान् आत्मा ने परमात्मपद प्राप्त किया।

आज साधारण तथा साधु-जीवन में भी शोक की आग जलती रहती है। यश और प्रतिष्ठा की कामना की आग भी जलती रहती है। चारों तरफ से जय-जयकार होती है और

अगर हम अपनी उस जय-जयकार को सुनने के लिए रुक जाते हैं, उसमें आनन्द का अनुभव करते हैं तो समझ लीजिए कि हमारे हृदय में से अभी वासना समाप्त नहीं हुई है और जब यह आग समाप्त नहीं हुई है तो सत्य मानिये कि उस आग में संयम-साधना का समस्त फल जलकर भस्म हो जाता है।

और वासना की भाँति शोक भी एक प्रकार की आग है। वह आग जब साधु को लग जाती है तो वह बेचैन हो जाता है। दुःख तो दुःख ही है और आपत्तियाँ भी आपत्तियाँ हैं। जब इन्सान दुःख की आग में जलता है तो उसका धर्म-कर्म सब जल जाता है। नैतिकता और ईमानदारी के ऊँचे भाव जल कर खाक हो जाते हैं। कोई विरले माई के लाल ही इस आग में पड़ कर सकुशल और कंचन बनकर इस आग से बाहर निकलते हैं।

जलती आग में एक लकड़ी डाल दो तो क्या वह आग में से यों की यों निकल आयेगी? आग में घास का तिनका डाल दो तो क्या वह निकल कर सही सलामत आता है? वह खाक बनकर ही लौटता है। किन्तु जब सोने को आग में डालते हैं तो वह और अधिक चमकता है। वह पहले की अपेक्षा अधिक सचाई, शुद्धि, विभूति और चमक-दमक लेकर बाहर निकलता है।

इसी प्रकार साधारण आदमी दुःख की आग में पड़ता है

तो जल जाता है। अपने जीवन को बर्बाद कर देता है। उसके संयम का रंग फीका पड़ जाता है; किन्तु जब महान् पुरुष उसी आग में कूदते हैं तो सोने की तरह चमकते हुए निकलते हैं।

अभिप्राय यह है कि उस महान् पुरुष ने दुःखों की भीषण आग में से निकल कर स्वर्ण की भाँति निखालिस स्वरूप प्राप्त किया और वे भगवान् महावीर के रूप में आए। वे भगवान् के रूप में आए तो हम उनकी स्तुतियाँ गाते हैं और उन्हें नमस्कार करके अपने जीवन को धन्य मानते हैं। हम उनकी इज्जत इसलिए नहीं करते कि वे हमारी जाति-विरादरी के थे, इसलिये भी नहीं कि हमें उनसे कुछ मिल जायगा। वे अपने स्थान पर पहुँच गये हैं और हम से कह गये हैं कि:—

परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।

अर्थात्–इस विचार को छोड़ दो कि तुम्हें कोई कुछ भी दे सकता है, तुम्हें जो कुछ पाना है, अपने कर्त्तव्यों से पाना है,

फिर भी हम भगवान् महावीर की स्तुति करते हैं तो कृतज्ञता के वशीभूत होकर उनके असामान्य गुणों के आकर्षण ने हमें खींच लिया है। उनके गुणों ने हमारे चित्त पर ऐसा जादू डाला है कि वह हठात् उनकी स्तुति करने में प्रवृत्त होता है। वहाँ कोई डंडा नहीं है, हुकूमत नहीं है, किन्तु दिल की हुकूमत है, उनके गुण हमारे हृदय पर अधिकार जमाये बैठे हैं, उनके जीवन की महान् छाप हमारे जीवन पर अंकितहो

गई है, उनके जीवन की हुँकार हमें बल प्रदान कर रही है और आज २५०० वर्ष के बाद भी उनके प्रति हमारा आकर्षण कम नहीं हुआ है, वह कम होने वाली चीज भी नहीं है, वहाँ वह शान है, जिसकी चमक धुंधली पड़ने वाली नहीं है।

ऐसे भगवान् महावीर पहले श्रमण बने, सच्चे साधु बने, जीवन बदलने वाले साधु बने, उन्होंने विकारों को मारा, उन पर विजय प्राप्त की, तो विकार-विजयी होकर विकारों के प्रधान सेनापति मोहनीय कर्म को परास्त किया, वीतरागदशा प्राप्त की, फिर उनका जीवन उस उच्च श्रेणी पर पहुँचा कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन की दिव्य ज्योती से जगमगा उठा, तब उनके ज्ञानदर्शन को न काल की सीमाएँ रोक सकीं और न देश की सीमाएँ ही बाँध सकीं,

हमारा ज्ञान देश और काल की सीमाओं से बंधा है। मैं देख रहा हूँ, क्योंकि देखना आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव का कभी समूल विनाश नहीं होता; किन्तु हमारे देखने की एक सीमा है। हमारे जानने और समझने की भी सीमा है। इस प्रकार हमारा दर्शन और ज्ञान सीमित है, वह देश काल की सीमाओं में महदूद हैं। किंतु केवल ज्ञान होने पर देश-काल की कोई भी सीमा कायम नहीं रहती। समग्र विश्व जैसे आँखों के आगे तैरने लगता है। हमारे भारतीय सन्तों ने कहा है—

दिकालाद्यनवच्छिन्ना–ऽनन्त चिन्मात्र मूर्त्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥

जो परिपूर्ण है, जो देश, काल आदि की सीमाओं से सीमित नहीं है, जो इन तमाम सीमाओं को तोड़कर अनन्त-अनन्त काल तक अमित बना रहेगा, वह चैतन्य-दीपक जब जलने लगता है तो सारे संसार का रहस्य झलकने लगता है। उसी परम तेज को नमस्कार है। और यह है परमात्म-दशा। तो यह परमात्मदशा महावीर को चैत्र सुदी १३ को नहीं प्राप्त हुई। तीस वर्ष महलों में गुजारे और जगत् की विभूति चरणों की चेरी बनी रही, तब भी वह भागवत दशा नहीं आई। वह उस कठोर साधना के बाद, वैशाख सुदी १० को प्रकट हुई, जब केवल दर्शन और केवल ज्ञान से उनकी आत्मा उद्भासित हुई।

प्रारम्भ से ही तीर्थंकर का जीवन भागवत जीवन नहीं है। जैन-धर्म के अनुसार भगवान् का जन्म नहीं होता। यह अवश्य है कि जिस जन्म में आत्मा तीर्थंकर बनने वाली होती है, उससे पहले के अनेक जन्मों में वह सत्संस्कारों को ग्रहण करती रहती है और कई जन्मों के सुसंस्कारों के फलस्वरूप तीर्थंकर के जन्म में, वह मानवीय विकास की चरम सीमा पर पहुँचती है; फिर भी परमात्म-दशा तो उसे साधना के पश्चात् और विकारों पर विजय प्राप्त करने के

पश्चात् ही प्राप्त होती है। इस प्रकार पहले से ही कोई आत्मा पवित्र नहीं होती। तीर्थंकर की आत्मा भी पहले तुम्हारी आत्मा के समान ही गलियों में भटकती थी। उन्होंने जीवन का महत्त्व समझा और अप्रमत्त-जीवन में आये। फिर चरित्र की उच्च-उच्चतर भूमिकाओं का स्पर्श करते हुए भागवत अवस्था प्राप्त की।

भगवान् ने अपने जीवन का कोई रहस्य हम से नहीं छिपाया। सम्यक्त्व पाने के बाद भी वे कहाँ-कहाँ भटके, किस-किस जीवन में, किस-किस योनि में गये, यह बात उन्होंने हरेक को बतलाई। तो, उन्होंने अपने जीवन की कहानी क्या बतलाई, हमें भगवान् बनने की राह बतलाई। उन्हें जो भी मिला उसी को उन्होंने यह राह दिखाई। अति-मुक्त कुमार जैसे बालक को भी बतलाई और अपने जीवन की अंतिम घड़ियों में रोता-हँसता कोई बूढ़ा मिला तो उसे भी बतलाई। कोई सम्राट मिला तो उसे भी वही राह बतलाई और पथ का भिखारी आया तो उसे भी उसी राह पर चलने की सलाह दी। बड़े-बड़े पण्डित, गौतम जैसे ज्ञानी मिले तो उनसे भी इसी राह के सम्बन्ध में कहा और एक किनारे से दूसरे किनारे तक अनजान किसान मिला तो उससे भी यही कहा। तो जो भी जिज्ञासु बन कर भगवान् के चरणों में आया, उसको भगवान् ने भगवान् बनने की वही राह बतलाई, जिस पर चल कर वे स्वयं भगवान् बन

सके थे। इस दृष्टिकोण से भगवान् तरण-तारण कहलाए। वे स्वयं तिरे और दूसरों को भी तारा। वे राग, द्वेष और विषय, विकार को स्वयं जीत कर जिन बने, और दूसरों को भी जिन बनाया। उन्होंने, स्वयं अप्रतिहत बोध पाया और दूसरों को भी बोध दिया। स्वयं मुक्त हुये और दूसरों को मुक्त होने का मार्ग सुझाया।

तो, ऐसे श्रमण भगवान् महावीर एक शुभदिन वाणिज्यग्राम नगर में पधारे। भगवान् किसी नगर में पधार जाएँ और जनता सोई पड़ी रहे, दुकान वाले दुकानदारी में लगे रहें और बहिनें चूल्हा सँभाले बैठी रहें, यह नहीं हो सकता था। भगवान् के पधारते ही नगर में हलचल मच गई। जनता के हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। बड़े-बड़े महलों में भी और मामूली झोंपड़ियों में भी जागृति सी आ गई। बालक और बूढ़े, नर और नारी सभी अपना-अपना काम छोड़ कर प्रभु के दर्शन के लिए रवाना हुए। और उनके निकट जाकर बैठ गये तो एक बड़ी भारी सभा जुड़ गई।

बात भी ठीक ही थी। आपको ही अगर मालूम हो जाय कि ब्यावर में या ब्यावर से दस-बीस-तीस कोस की दूरी पर किसी खेत में कल्पवृक्ष उगा है तो क्या आप अपने घर में बैठे रहेंगे ? या कल्पवृक्ष के पास दौड़ेंगे ?

कल्पवृक्ष की बात जाने दीजिए। देवी-देवताओं की कल्पित मूर्त्तियाँ हैं और कोई नहीं जानता कि वे मनोकामना

की पूर्ति करेंगी या नहीं, फिर भी कितने लोग उनके पास दौड़े जाते हैं ? कितने लोग उनके सामने अपने मस्तक झुकाते हैं ? तब जहाँ साक्षात् देवाधिदेव प्रभु पधार जाएँ, वहाँ की तो बात ही क्या है। प्रभु तो जीते-जागते और सच्चे कल्पवृक्ष थे। लोग उनके दर्शन के लिए जाएँ, यह स्वाभाविक ही था। उनके मुखारविंद से रत्नों की वर्षा जो हो रही थी! भला कौन न दौड़ कर जाता? जिसमें धर्म के प्रति श्रद्धा है, वह धर्म-कार्य में देर क्यों करना चाहेगा ?

भगवान् वाणिज्यग्राम में पधारे तो नगर के बीच किसी गली-कूचे में नहीं ठहरे, किन्तु नगर के बाहर उद्यान में विराजमान हुए। लोगोंने यह नहीं सोचा कि अभी तो काम-काज का वक्त है, फिर जाएँगे। इतनी दूर जाना पड़ेगा और फिर आना पड़ेगा! जाएँगे तो काम पड़ा रह जायगा!

आज यह स्थिति है कि लोग बेकाम बैठे रहेंगे पर सन्त-समागम करने नहीं जाएँगे। भूले-भटके कभी आगये और किसी सन्तने पूछ लिया, श्रावकजी! आज तो बहुत दिनों बाद दीख पड़े। क्या इन दिनों काम-काज अधिक करना पड़ा। तो श्रावकजी कहते हैं-'महाराज, काम तो कुछ नहीं है, यों ही नहीं आया गया।'

जब काम काज नहीं है और निठल्ले बैठे हैं, तब तो यह दशा है; अगर काम हो तो न जाने क्या दशा हो ?

वाणिज्य ग्राम नाम से अनुमान होता है कि वहां विशाल पैमाने पर व्यापार आदि का काम होता था। और राजा-महाराजाओं के यहाँ भी काम की कमी नहीं थी। परन्तु फिर भी लोग पहुँचे और राजा जितशत्रु भी पहुंचा। सब ने भगवान् के दर्शन किये। जिसे धर्म की लगन लग जाती है और धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है, वह हिसाब-किताब नहीं देखता, जहाँ सत्य मिलता है, अहिंसा मिलती है और वह चीज मिलती है, जो मनुष्यको भगवान् बना देती है, अनन्त २ काल के बंधनों को काट देती है, वहाँ कौन आत्महितैषी न जाना चाहेगा ?....

बड़ीबात श्रद्धा की है। जब श्रद्धा की ज्योति मन्द पड़ जाती है या जलती-जलती बुझ जाती है तो अंधकार ही अंधकार फैल जाता है। जो श्रद्धाशील हैं वे निरन्तर बढ़े चले जाते हैं और जो श्रद्धा को तोड़ देता है उसे बगल में बैठे हुए देवता का भी पता नहीं चलता। यह बात जैनधर्म के लिये नहीं, धर्म-मात्र के लिये है। किसी भी धर्म को यदि जीवित रखना है तो उसके प्रति श्रद्धा की भेंट आवश्यक है। श्रद्धा और प्रेम के अभाव में कोई भी धर्म जिन्दा नहीं रह सकता। अतएव जो अपने धर्म को जीवित रखना चाहता है उसे अपने धर्म के प्रति नम्रतापूर्वक श्रद्धा की भेंट समर्पित करना ही चाहिए।

आपको भरत चक्रवर्ती का स्मरण है ? वे भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। जब वह सिंहासन पर आसीन थे उसी

समय उन्हें समाचार मिला कि उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। ज्योतिषी पत्रा लेकर बैठ गये और ग्रह-नक्षत्रों की गणना कर उनका फलादेश बतलाते हुए कहने लगे—नवजात शिशु महान् सौभाग्यशाली है। वह——

और भरत जी अपने पुत्र का भविष्य सुन रहे हैं कि दूसरी तरफ से समाचार मिलता है—आपकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। उसकी पूजा करने पधारिये।

तीसरी ओर से संवाद मिलता है—भगवान् आदिनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है। समवसरण लग रहा है।

पुत्र-प्राप्ति का अपार हर्ष हृदय में समा नहीं रहा है कि उसी समय चक्रवर्त्ती होने का संदेश देने वाला चक्ररत्न प्रकट होता है। भला इस हर्ष की कहीं सीमा है? कोई प्यादा हो और उसे जमादार बना दिये जाने की खबर मिले तो कितना प्रसन्न होता है, वह? आज हजार कमाया और सूचना मिल जाय कि कल दस हजार और परसों लाख कमाओगे तो हृदय कैसा बंदर की तरह नाचने लगता है। फिर भरत जी को तो पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ है और चक्रवर्त्तित्व भी मिला है। दुनियाँदारी के लिहाज से इससे बढ़कर और क्या बड़ा लाभ और सुख हो सकता, किसी को! तीर्थंकर का पद तो आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च है, किन्तु संसार के बड़े से बड़े वैभव के नाते तो चक्रवर्त्ती का पद ही सर्वोत्कृष्ट है।

इस तरह तीन तरफ से आनन्द-प्रद सूचनाएँ पाकर

भरत को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, आज यह कौन कह सकता है ? परन्तु भरत सोचते हैं, यह संसार है और यहाँ पिता-पुत्र के नाते तो बनते रहते ही हैं। यह संसार के नाते अनादि काल से चले आ रहे हैं-बनते और बिगड़ते रहे हैं। तो इस नाते में भगवान् का दर्शन करने में ढील नहीं कर सकता। उस आत्मिक आनन्द को नहीं छोड़ सकता।

और वह चक्ररत्न !—पूजा न की जाएगी तो रुष्ट होकर चला जाएगा। मगर क्या कर सकता हूँ ? प्रभु की उपासना का परित्याग तो उसके लिए भी नहीं कर सकता। वह रहे तो रहे और जाय तो जांय। भाग्य में है तो जायगा कहाँ ? न होता तो आता ही कैसे ? आया है तो दास बन कर आया है, गुलाम होकर आया है। और धर्म के प्रताप से ही तो आया है। जिस धर्म के प्रताप से चक्ररत्न आया है, चक्ररत्न के लिए क्या उसी धर्म का परित्याग करदूँ ? नहीं, चक्ररत्न के लिए भरत रुकने वाला नहीं !

और भरत, पुत्र और चक्ररत्न दोनोंको छोड़कर, भगवान् के दर्शन के लिए पहुँचे। भगवान् के परमानन्द-दायक प्रवचन-पीयूष का पान करने के लिये पहुँचे। उन्होंने चक्रवर्त्ती पद की अपेक्षा भगवान् की वाणी के श्रोता के पदको महत्त्व-पूर्ण समझा।

आपके विचार में कौनसा पद महत्वपूर्ण है, यह आप जानें, मगर भरत ने तो चक्रवर्ती पद को ठुकरा कर श्रोता

बनना ही श्रेयस्कर समझा। और वह त्वरा के साथ उस ओर चले—तो; इसलिए नहीं कि जल्दी पहुँचेंगे तो बैठने को सिंहासन मिलेगा ? देर से जाएँगे तो ज़मीन पर बैठना पड़ेगा ? नहीं, वहाँ ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। भगवान् के दरबार में राजा-रंक में कोई भेद नहीं था। भगवान् का दरबार ही तो दुनियाँ भर में ऐसी एक जगह थी जहाँ मनुष्य-मात्र को समान दर्जा प्राप्त था; जहाँ मानव सब प्रकार के कल्पित भेद भावों को भूल कर असली मानव के रूप में स्थान पाता था! आप तो यहाँ दरियाँ बिछा लेते हैं और कोई श्रीमन्त आजाएँ तो गलीचा बिछा देने से भी नहीं चूकते। पर भगवान् के दरबार में दुनियाँ के वैभव को कोई महत्व नहीं दिया जाता। जहाँ चक्रवर्त्ती सम्राट अपरिग्रही भिक्षु के चरणों में मस्तक झुकाता है, वहीं परिग्रह के प्रतिनिधि की पूजा की जाती है। ऐसा बे-मेल और परस्पर विरोधी व्यवहार बुद्धिमान् नहीं करते।

इस विशाल भूमण्डल में सर्वत्र अधर्म और असत्य की पूजा हो रही है और परिग्रह पुज रहा है। कम से कम धर्म-स्थान तो इस मिथ्याचार से अछूते बने रहें। धर्म के लिये एक जगह तो टिकने को बाकी रहने दीजिये।

भरत स्वयं भी कहाँ चाहते थे कि वे अन्य मनुष्यों से अपने आपको अलग समझें। मनुष्य-मात्र से अलहदा करने वाला तो चक्रवर्त्ती का पद था; परन्तु उसकी उपेक्षा करके वह

तो श्रोता बनने चले, उस पद को अंगीकार करने चले, जो भगवान् के दरबार में मौजूद रहने वाले प्रत्येक प्राणी को प्राप्त था।

भरत ने श्रोता-पद के महत्त्व को समझा तो चक्रवर्त्ती के पद और पुत्ररत्न से भी बढ़कर उसे माना। वास्तव में वह जानते थे—श्रोता बनकर आत्मा अनन्त-अनन्त गुण प्राप्त कर सकता है। अतएव वे चक्रवर्त्ती पद की परवाह न कर आत्म-राज्य की खूबियों को प्राप्त करने के लिए गए।

भरत के हृदय में श्रद्धा थी। श्रद्धा न होती तो वे क्यों जाते? जिसे इतनी अटूट श्रद्धा प्राप्त है, वह भक्त भगवान् क्यों न बन जायगा? वास्तव में भरत भक्तों के लिए आदर्श हैं। उनकी इस अटूट लगन को हृदय में बसाकर कोई भी मनुष्य, मनुष्य से भक्त और भक्त से भगवान् बन सकता है।

हाँ, तो वाणिज्यग्राम नगर में जब भगवान् महावीर पधारे तो चंपा के राजा कोणिक की तरह राजा जितशत्रु भी उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। सबने भगवान् के चरणारविन्दु में पहुँचकर तीन बार प्रदक्षिणा की और स्तुति की—प्रभो! आप कल्याणमय हैं, मंगलमय हैं, दिव्यस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। हे प्रभो! बार-बार मस्तक टेक कर हम आपके चरणों में वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं और आपकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं।

एक योजन का दायरा है। जिसे जहाँ जगह मिली, वहीं

बैठ गया। राजा जितशत्रु भी एक जगह बैठ गया। भगवान् के चरणमूल में बैठने का क्या महत्व है? शरीर से बैठ गए और मन दूर-दूर चक्कर काटता रहा तो उस बैठने का कोई मूल्य नहीं है। और शरीर से दूर बैठ कर भी जो प्रभु के चरणों में अपने मन को जोड़ देते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं। यही तो प्रभु की सेवा है। अपने मन को महाप्रभु के चरणों में लीनकर दिया तो आपने उनकी सेवा करली। सेवा में बैठने का अर्थ यही है। जितनी देर बैठो उतनी देर अपने स्वरूप की झाँकी लो। आत्मा की ग्रन्थियों को सुलझाओ। आत्मा के निगूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन करने का प्रयास करो। ज्ञान की उज्ज्वल ज्योति अपने अन्तर में जगाओ, जिससे अनादि-कालीन अंधकार में विलीन अपने निज के स्वरूप को देख सको।

भगवान् महावीर की वाणी का प्रकाश आज भी हमारा मार्ग-दर्शन कर रहा है—तो, सन्त-समागम करके अपने श्रेयस का मार्ग क्यों नहीं खोज लेते? जो ऐसा करेंगे, वे अपने कल्याण का द्वार खोल सकेंगे।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
१८-८-५०

गुणिषु प्रमोदम्

यह उपासकदशांगसूत्र है और आनन्द श्रावक का वर्णन चल रहा है। कल बतलाया गया था कि श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम में पधारे हैं और समवसरण लग रहा है। नगर की जनता, बहुत बड़ी संख्या में, प्रभु का प्रवचन सुनने के लिए उमड़ रही है। राजा जितशत्रु भी पहुँच गए हैं और भगवान् की पर्युपासना करने लगे हैं। और सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं:—

तए णं से आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे, एवं खलु समणे.......... जाव विहरइ। तं महाफलं.... जाव गच्छामि जाव पज्जुवासामि, संपेहेइ। ......

भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम नगर में पधारे हैं, यह खबर आनन्द ने भी सुनी। सुनने को तो मनुष्य बहुत-सी बातें सुनता है, मगर एक कान से सुन कर दूसरे कान से निकाल देता है। सुनी को अनसुनी कर देता है। सुनने के साथ जो बात मनमें न बैठे और मन को स्पर्श न करे, उसका सुनना वृथा है। उस सुनने का कुछ अर्थ नहीं है।

मगर आनन्द ने जब भगवान् के पधारने की बात सुनी तो सुन कर अनसुनी नहीं कर दी। इस बात को सुनकर उसका हृदय एकदम प्रभावित हो उठा। इसी आशय को सूचित करने के लिए मूल में कहा गया है कि यह बात उसने लब्ध की प्राप्त की।

श्रवण का फल विचारणा है। जो किसी बात को सुनकर ही रह जाता है, वह जीवन का पूरा आनन्द नहीं उठा पाता। अतएव जो बात सुनी जाय, उसके सम्बन्ध में विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए और मनन करने पर ग्राह्य हो तो ग्रहण भी करना चाहिये और उस विषय में अपने कर्त्तव्य को निश्चित करना चाहिए। मनुष्य में यह प्रवृत्ति होगी तो उसे सुनने का आनन्द मिलेगा और उसका सुनना सार्थक होगा।

आनन्द को भगवान् के पदार्पण की बात सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ, बहुत आनन्द हुआ। उसने सोचा, भगवान् का दर्शन करने और उनकी उपासना करने से मुझे महान् फल

की प्राप्ति होगी। मैं उनके दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल करूँगा; उनकी वाणी श्रवण करके अपने कानों को पवित्र करूँगा और अपने जीवन के विषय में प्रकाश पाकर जीवन को पवित्र बनाऊँगा। तो, चलकर उस महान आत्मा के दर्शन करूँ, उनकी सेवा करूँ।

आनन्द के मनमें ज्योंही यह बात आई कि उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। वह जैन नहीं था। तीर्थंकरों के संबंध में भी वह कुछ नहीं जानता था। फिर भी उसने किसी से सुना कि भगवान पधारे हैं तो उसको महान हर्ष हुआ। उसके हृदय में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा।

तो बात यह है कि जैन होने से पहले ही एक विशेष भूमिका बन जानी चाहिये। जीवन में सामान्यतः श्रद्धाशीलता होनी चाहिये। मन में धर्म के प्रति प्रेरणा उत्पन्न हो जानी चाहिए और यह धारणा बना लेनी चाहिये कि हमारा जन्म भोग-विलास के लिये नहीं, वास्तविक कल्याण के लिये है। संक्षेप में, जीवन में जागृति आ जानी चाहिये कि जिससे प्रकाश मिलने पर उसे ग्रहण किया जा सके।

आनन्द धार्मिक विचारों का था। उसके संस्कार पवित्र थे। यद्यपि उसे जैनधर्म की श्रद्धा नहीं थी, परन्तु विद्वान् और गुणी पुरुष को देखकर प्रसन्न होने का उसका स्वभाव था। हमारे यहाँ चार भावनाओं का वर्णन है, जिनमें एक भावना है:—

गुणिषु प्रमोदम

कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो अपने आप में नम्र होता है और श्रद्धालु भी ! अपने से ज्यादा गुणी को देखता है तो प्रसन्न होता है। इस प्रकार गुणी-जन के आगमन से मन में प्रसन्नता होना, हृदय का गद्‌गद हो जाना और उससे कुछ प्राप्त करने की मनोवृत्ति उत्पन्न होना, प्रमोद भावना का लक्षण है। यह भावना जिसमें होगी, वह महान् बन जायगा।

आनन्द के मनमें प्रमोद-भावना का गुण पहिले से ही विद्यमान् था। जो भी गुणी हो उसके प्रति सन्मान का भाव होना चाहिये और गुणी का नाम सुनते ही हृदय हर्ष से गद्-गद् हो जाना चाहिये, फिर वह किसी भी सम्प्रदाय का हो या किसी भी पंथ का हो उसके पास जाना, उसकी वाणी सुनना और यथोचित सेवा करना, यह विवेकवान् और गुण-ग्राहक का कर्त्तव्य है। और आनन्द का ऐसा ही दृष्टिकोण था। उसका ऐसा दृष्टिकोण न होता तो वह भगवान् महा-वीर के पास क्यों जाता ? यह उदार वृत्ति उसमें पहले से ही न होती तो भगवान् के आगमन का समाचार पाते ही वह उनकी सेवा में उपस्थित होने का संकल्प कैसे कर लेता ?

भारतवर्ष में, प्राचीन काल में, पर्याप्त धार्मिक उदारता थी। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के उपदेशक के पास आने जानेमें हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करते थे। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले अनेक उदाहरण हमारे शास्त्रों में आते हैं।

एक स्थान पर आचार्य हरिभद्र ने एक उदाहरण दिया है। वह बड़ा सुन्दर है और विचारणीय है। वह कुछ रूपान्तर के साथ इस प्रकार है—

एक युवक था। उसने किसी साधु या योगी का अपमान किया। अपने अपमान से योगी क्रुद्ध हो गया। उसने कहा—मूर्ख, बैल कहीं का! और शाप दे दिया गया और वह बैल बन गया।

जब बैल बने हुए युवक की पत्नी ने देखा कि पति बैल बना दिये गये हैं, तो वह उस बैल को ही पतिवत् समझ, उसके गले में रस्सा बाँध कर जंगल में चराने ले जाती और कभी-कभी रो लेती। इस प्रकार कुछ दिन बीत गए।

एक दिन स्त्री बैल को चरा रही थी और पास के एक वृक्ष की छाया में बैठ कर रो भी रही थी। संयोगवश उधर से देव-देवी निकले। देवी का हृदय कोमल था। स्त्री का दुःख देख कर वह पिघल गया। उसने सोचा—बेचारी बड़ी दुखिया है। इसका दुःख दूर हो जाय तो अच्छा है और उसने देव के सम्मुख उसका दुःख दूर करने की इच्छा प्रकट की।

देव ने कहा—आखिर क्या दुख है इसको?

देवी ने दुख दूर करने के लिये आग्रह और अनुनय करते हुए कहा—यह तो मैं नहीं जानती, किन्तु यह रो रही है, इससे मालूम होता है कि कोई न कोई दारुण दुख है इसे।

देव ने कहा—तुम्हें पता नहीं। इसका पति बड़ा घमन्डी था।

एक योगी ने आवेश में आकर इसे बैल बना दिया। इसकी स्त्री अब भी इसे पति समझती है और सेवा करती है।

देवी की दया और भी बढ़ गई। बोली, इसकी जिन्दगी तो बर्बाद हो जाएगी।

देवी का हृदय व्याकुल हो गया। उसने फिर कहा—आपके पास शक्ति है। वह इस समय काम न आई तो कब काम आएगी? अनुग्रह करके इसे फिर से आदमी बना दीजिए।

देव ने कहा, मुझमें यह शक्ति नहीं है। इस पर बैल बनाने की विद्या का प्रयोग किया गया है। उसकी काट इसे आदमी बना सकती है।

देवी—तो काट क्या है?

देव—इसी वृक्ष के आस पास जो घास है, उसमें एक ऐसी जड़ी है कि उसे यह खाले तो मनुष्य बन जाय।

देव और देवी के बीच जो बातचीत हुई, उसे बैल की पत्नि सुन रही थी। वे बातचीत करके आगे चले गये। स्त्री सोचने लगी—पति को आदमी बनाने वाली जड़ी है तो पास में ही, मगर नहीं मालूम वह कौनसी है? इन्हें खिलाऊँ भी तो कौन-सी खिलाऊँ?

उसने इधर-उधर की घास इकट्ठी की और सोचा वह जड़ी भी इसमें होगी ही।

उसने बैल को घास चराना शुरू किया और प्रतीक्षा करने लगी। थोड़े समय तक यही चक्कर चलता रहा। आखिर वह

जड़ी बैल ने खाली और बैल फिर आदमी बन गया।

यह कहानी, कहानी तक ही सीमित है, किन्तु हरिभद्र सूरि ने एक विशेष बात समझाने के लिये यह कहानी कही है। हरिभद्र बड़े दार्शनिक माने जाते हैं। उनका साहित्य रोशनी देने वाला और धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ाने वाला है। उनके साहित्य के अध्ययन से मौलिक विचारों का सृजन होता है।

वह कहते हैं, वह स्त्री यों ही बैठी रहती और सोचती रहती कि जड़ी मिल जाय तो क्या जड़ी मिल सकती थी? मगर उसने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त प्रयत्न किया और प्रयत्न करने में बुद्धि से भी काम लिया। वह उस जड़ी के रंग रूप से वाकिफ़ न थी तो, उसने सोचा क्यों न यहाँ पर उगी हुई सभी प्रकार की घास बैल को खिलाऊँ! जब जड़ी इसी स्थान पर घास के बीच कहीं पर है तो, घास के साथ-साथ वह जड़ी भी निश्चय ही बैल के मुँह में पहुँच जायेगी और मनुष्य-रूप होकर मेरा पति मुझको मिल जायगा। और उसने यही किया भी—तो, अपने बुद्धि-युक्त परिश्रम का फल उसे मिला भी तुरन्त ही। घास के साथ मिलकर वह जड़ी उस बैल के मुँह में पहुँच गई—और उस स्त्री के देखते ही देखते वह बैल अपने मनुष्य रूप में उसके सम्मुख खड़ा होगया।

तो, इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने मूल रूप में ज्ञानमय होने पर भी, बैल के समान अज्ञान बनी हुई है। इसे अपने जीवन का कुछ पता नहीं है और जब पता नहीं है तो बैल ही

है। अज्ञानता ही बैलपना है। अब आत्मा बैल से इन्सान बने, अज्ञानी से ज्ञानी बने तो कैसे बने ? तो, इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा गया—

'सम्यक्त्व की जड़ी का सेवन करके।'

'परन्तु सम्यक्त्व कहाँ से मिले ?'

'गुरु से।'

'गुरु की खोज कहाँ की जाय ?'

'जैसे घास-फूस में जड़ी की खोज की गई।'

देखने में आया है कि किसी-किसी साधक के अन्तरतर में स्वतः सम्यक्त्व की ज्योति प्रकाशमान होने लगती है, पर ऐसे साधक प्रायः कम होते हैं। और दूसरे प्रकार के साधक वे हैं, जो सम्यक्त्व की ज्योति प्राप्त करने के लिए इधर-उधर गुरु की खोज करते हैं। वे सोचते हैं कि किसी से मुझे जीवन के कल्याण की बात मिल जाय। यह सोच कर वह एक के पास जाते हैं, दूसरे के पास जाते हैं और तीसरे के पास भी जाते हैं और किसी भी सम्प्रदाय के ज्ञानी समझे जाने वाले के पास चले जाते हैं। उनकी सत्य की जिज्ञासा इतनी प्रबल हो उठती है कि वे यही सोचा करते हैं कि कहीं न कहीं से यथार्थ ज्ञान मैं प्राप्त करूँ—तो, मेरी आत्मा को शान्ति मिले।

तो, ऐसा करना घास खाने के समान है। सभी घास जड़ी नहीं है, परन्तु नहीं मालूम कि जड़ी कौन है और कहाँ है ? अतएव जड़ी खाने के लिए घास भी खाना पड़ता है। सद्गुरु

की खोज में असद्गुरुओं के पास भी जाना होता है। जैसे घास खाते-खाते जड़ी हाथ लग जाती है, उसी प्रकार भटकते भटकते सद्गुरु की भी प्राप्ति हो जाती है और जीवन आनन्दमय एवं कृतार्थ हो जाता है।

आनन्द ऐसा ही उपासक था। सत्य के स्वरूप को समझने की उत्कन्ठा उसके हृदय में जागृत थी। वह सद्गुरु की तलाश में था। नगर में जो भी महान् गुणी आत्मा आएँ, उनका समागम किया जाय, उनकी वाणी सुनी जाय और ऐसा करते-करते कोई सच्चा गुरु मिल जायगा तो मेरा जीवन उज्ज्वल हो जायगा। आनन्द की ऐसी ही मनोवृत्ति थी।

अचानक श्रमण भगवान् महावीर उसके ग्राम में पधारे। उनकी कीर्त्ति, यश और प्रतिष्ठा उसने सुनी, साथ ही उसने यह भी सुना कि उन्होंने तरुण अवस्था में समस्त राजकीय वैभव को ठोकर मार दी है, सोने के महलों को छोड़ दिया है और साधु बन गए हैं। सच्चे साधु बन कर उन्होंने बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेली हैं और जो कुछ प्राप्तव्य था उसे पा लिया है और जब उन्होंने जीवन्मुक्ति पाली तो जगत् का पथ-प्रदर्शन करने के लिये विचरने लगे हैं। उसने यह भी सुना कि उन्होंने यज्ञों की हिंसा के विरुद्ध साहस के साथ आवाज बुलंद की है। बड़े-बड़े पण्डित और राजा-महाराजा उनके शिष्य बनते जा रहे हैं। इन्द्रभूति जैसे चार वेदों के पाठी असाधारण विद्वान उनके पास गये और उनके चरणों में पहुँचकर वापिस नहीं लौटे।

आशय यह है कि भगवान महावीर की जो ख्याति फैल रही थी, यह आनन्द के कानों तक भी पहुँची और उसके मन में हर्ष हुआ कि ऐसी महान् आत्मा इस नगर में आई है।

भगवान् महावीर की यह ख्याति किसी भी जिज्ञासु और मुमुक्षु पुरुप को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये पर्याप्त थी। तो, आनन्द भी इससे प्रेरित होकर और सत्य का दर्शन पाने की भावना लेकर, भगवान् महावीर के पास पहुँचा। उसने सोचा–भगवान् का दर्शन करने से मुझे महान् फल की, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी।

आनन्द समझदार था और अपने जीवन को सुधारने का मार्ग तलाश कर रहा था। जब उसने सुना कि भगवान् आये हैं और हजारों आदमी उनके दर्शनों के लिये जा रहे हैं तो सोचा—मैं भी जाऊँ। किन्तु उसके जाने का असली निमित्त यही था कि उसने भगवान् की महान् कीर्ति सुनी थी और इस समय उनके आगमन का समाचार पाकर उसके हृदय में गुद-गुदी पैदा हो गई कि मैं भी जाऊँ, मैं भी दर्शन करूँ।

वास्तव में, उस समय आनन्द को भगवान् महावीर के आगमन के संवाद को सुनकर उसी प्रकार प्रसन्नता हुई, जैसे किसी भक्त को होनी चाहिये और उसने भगवान् के श्री चरणों में जाने का निश्चय कर लिया। उसने सोचा—भगवान् के दर्शन करने से उसे निश्चय ही अमोघ फल की, महान् फल की प्राप्ति होगी।

राज्य-वैभव मिल जाना, धन-सम्पत्ति पा लेना और यहाँ तक कि स्वर्ग की प्राप्ति हो जाना भी सांसारिक फल मिलना कहलाता है। उसे फल कहा जा सकता है, महान् फल उसे नहीं कह सकते। महान् फल इन सब फलों से निराला ही होता है।

जब तक मनुष्य का अज्ञान-अंधकार नहीं मिटता, तब तक वह संसार में भटकता रहता है और शाश्वत शान्ति नहीं पा सकता। इस रूप में जन्म-मरण का मूल अज्ञान है और उस अज्ञान-अंधकार का मिट जाना, समीचीन दृष्टि मिल जाना और अपने स्वरूप को सम्यक् रूप से समझ लेना, यही मानव जीवन का महान् फल है।

कोई फल प्राप्त हो, मगर उसकी सहायता से मनुष्य जीवन की सार्थकता हाथ न लगे—तो, वह फल महान् फल कैसे कहा जा सकता है? जिस सफलता के गर्भ में घोर असफलता ही छिपी मुस्कराती हो तो वह क्षणिक सफलता कल्पित सफलता है, वास्तविक नहीं। असली सफलता तो वही है, जिसके पश्चात् असफलता का मुँह ही न देखना पड़े।

संसार की बड़ी से बड़ी सफलताएँ क्षणिक हैं और यदि स्थायी हैं तो तभी तक जब तक मनुष्य इस शरीर में मौजूद रहता है, साँस बंद होने पर कोई भी सफलता उसके काम नहीं आती। अतएव उसे ज्ञानी पुरुष क्षुद्र सफलता कहते हैं।

महान् पुरुष का समागम करने से ही महान् फल की

प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये आनन्द विचार करता है कि प्रभु के दर्शन करने से मुझे महान् फल प्राप्त होगा।

मनुष्य को संसार के साथ किस प्रकार के संबंध कायम करने हैं, दूसरों के प्रति कैसी भावना रखनी है, यह बात मनुष्य सहज ही में नहीं समझ पाता, इसी कारण मनुष्य की जिन्दगी भार-स्वरूप हो जाती है, निष्फल हो जाती है। मगर आनन्द अपने जीवन को सफल बनाने का इच्छुक है।

सत्पुरुषों का दर्शन करने की इच्छा के मूल में किसी प्रकार की सांसारिक वांछा नहीं होनी चाहिए, तभी मनुष्य अपने विकास के मार्ग पर आगे बढ़ सकेगा। तो, मनुष्य को चाहिये कि जब कभी भी वह किसी सत्पुरुष के दर्शन करने के लिये जाये तो इसी चैतन्य भाव को लेकर जाये कि मैं अपने जीवन के विकास के लिये जा रहा हूँ। आत्मा के साथ लगे हुए जिन विकारों के कारण मैं अनादि काल से जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हूँ—उनको आत्मा से कैसे दूर किया जाय, अपने इस प्रश्न का समाधान करने के लिये मैं जा रहा हूँ।

प्राचीनकाल में भी लोग सत्पुरुषों के दर्शन को जाया करते थे और आज भी जाते हैं। जब जाते हैं तो उनका कोई न कोई संकल्प होता है। उनका वह संकल्प दुनियावी भी हो सकता है। मगर जो दुनियादारी का संकल्प लेकर जाते हैं वे विकारों को कम करने की दृष्टि न रख कर बढ़ाने की

दृष्टि रखते हैं। तो, ऐसे लोग किसी महापुरुष के पास जाकर भी कोई महा प्रकाश लेकर नहीं लौटते।

तो, जब तक संसार की दुर्वासनाएँ बनी रहेंगी और दुनियादारी की दुकान चलाने के लिए सन्तसमागम और धर्म कर्म किया जाएगा, तब तक मन में प्रकाशमान ज्ञान–चेतना नहीं होगी। तो, महा-पुरुषों के पास पहुँच कर भी खाली हाथ लौटना होगा।

आनन्द दुनियादारी का फल नहीं चाहता। वह सोचता है कि भगवान् का दर्शन करने से मुझे 'महान्' फल की प्राप्ति होगी। वहाँ मैं जीवन की सही राह तलाश करूँगा। और आनन्द इतना बड़ा उद्देश्य लेकर भगवान् की सेवा में पहुँचता है।

और जब भगवान के चरणों में वह पहुँच जाता है तो उसे सच्चा आनन्द मिलता है। सच्चा आनन्द कहाँ है? क्या प्रभु के चरणों में रक्खा है, सच्चा आनन्द? नहीं, प्रभु के चरणों में नहीं है। सच्चा आनन्द तो अपने आप में है। अतएव आत्मदर्शन से ही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है।

प्रभु की जो आज्ञाएँ हैं, उपदेश हैं, उसको साधक जब अपने मन में उतारता है, तब उसे आत्मदर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

आनन्द जैन नहीं था। उसने इससे पूर्व भगवान् महावीर के दर्शन कभी नहीं किये थे। किन्तु आज वह दर्शन करने के

लिये चला तो सोचना होगा इसमें भगवान् ज्यादा निमित्त हैं या भक्त ज्यादा निमित्त है? भगवान् तो भगवान् ही हैं। उनका आकर्षण बड़ा आकर्षण है और वह श्रद्धालु बनाने वाला है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धनकुवेर अपनी श्रद्धा के सुमन उनके चरणों में अर्पित करते थे और हजारों आदमी उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ते थे। यह सब देख-सुन कर आनन्द के चित्त में भी लहर उठी कि मैं भी जाऊँ और दर्शन करूँ! तो, इस रूप में भगवान् भी आनन्द के जाने में निमित्त बनते हैं। परन्तु भगवान् ने आनन्द के पास कोई संदेशा नहीं भेजा कि मैं भगवान् हूँ और तुम मेरे पास आओगे तो तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो जायगा। आनन्द के हृदय पर इस रूप में भगवान् की छाप नहीं पड़ी। उसने तो भगवान् की महिमा सुनी और श्रेष्ठ नागरिकों को भक्ति-पूर्वक सेवा में उपस्थित होने के लिए जाते देखा तो जाने का निश्चय कर लिया। तो भगवान् का आकर्षण महान् होने पर भी भक्तों का आकर्षण भी बड़ा है।

जो भगवान् की महिमा सुनेंगे और भगवान् की सेवा में एक बार उपस्थित हो जाएँगे, वे भगवान् की महत्ता को प्रत्यक्ष ही अनुभव करने लगेंगे, किन्तु उनकी महिमा कुछ तो भक्तों पर भी निर्भर है ही। इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र ने कहा है:—

न धर्मो धार्मिकैर्विना।

अर्थात्—धर्म के अनुयायियों पर धर्म निर्भर है।

साधारण जनता में मौलिक रूप से धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन करने और समझने की योग्यता नहीं होती। ऐसा करना तो गिने-चुने विद्वानों का ही काम है। आम जनता किसी भी धर्म के अनुगामियों के व्यवहार को देख कर ही उनके धर्म के विषय में अंदाज लगाया करती है। जिस धर्म के अनुयायियों का आचरण प्रामाणिक, नीतिपूर्ण और सुन्दर होता हैं, लोग उस धर्म को भी अच्छा समझने लगते हैं और जिस धर्म को मानने वाले लोग अप्रामाणिक और अन्यायी होते हैं, उनके धर्म को भी वैसा ही समझ लेते हैं। इस रूप में धार्मिक पुरुष अपने धर्म का प्रतिनिधि है।

आनन्द प्रभु के चरणों में पहुँच सका, इसका कारण भगवान् तो हैं ही, पर भक्त भी हैं। आप जैसे गृहस्थ भक्तों ने उसे प्रभु के चरणों में पहुँचा दिया।

भगवान् पधारे हैं तो भक्तों को भी अपना पार्ट अदा करना चाहिए और इस प्रकार भगवान् तो पुजते हैं सो पुजते ही हैं परन्तु पुजारी भी उन्हें पुजवाते हैं।

यह एक महत्वपूर्ण बात है। भगवान् हों तो क्या, आचार्य हों तो क्या, और साधु हों तो क्या, जनता के हृदय में श्रद्धा पैदा होनी चाहिए। हर्ष की लहर पैदा होनी चाहिए और भक्ति की लहर पैदा होनी चाहिए। हमने इस महत्वपूर्ण तथ्य को भुला दिया है और यही कारण है कि हम अपनी श्रद्धा किसी एक केन्द्र में इकट्ठा नहीं कर सकते। आज जनता

की श्रद्धा बिखर गई है। जब तक वह एक केन्द्र में इकट्ठी नहीं होगी—एक जगह स्थापित नहीं की जाएगी, वह धर्म के वृक्ष को पनपने नहीं देगी।

आज हमारी स्थिति यह है कि हम किसी एक आचार्य को अपना धर्मनायक बनाकर अपनी श्रद्धा प्रकट नहीं कर पाते और गिरोह बनते जा रहे हैं—गिरोहों में से गिरोह बनते चले जाते हैं। अढ़ाई हजार वर्षों का जैनसंघ का इतिहास हमारी इस दुर्बलता का जीताजागता इतिहास है। इस लम्बे काल में हम बिखरने ही बिखरने में रहे हैं। केन्द्रीयकरण की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया और कदाचित् किसी ने ध्यान दिया हो तो हम नहीं जानते कि उसका कोई कारगर नतीजा निकला हो। जैनसंघ का इतिहास तो यही बतलाता है कि हम बराबर विकेन्द्रीय-करण करने में ही लगे रहे हैं और सम्प्रदायों, गणों और गच्छों के रूप में नये-नये गिरोह बनाते चले गए हैं।

यही कारण है कि आज जैनसंघ की किसी एक आचार्य के प्रति श्रद्धा नहीं रही है और सब अपने-अपने पक्ष को प्रबल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस कारण जैन संघ की श्रद्धा बिखर गई है। हम न एक गुरु के रहे हैं, न एक आचार्य के होकर रहे हैं। जो भी आचार्य हैं या साधु हैं, वे यही कहते हैं कि ले लो हमारी समकित। इस प्रकार एक साधु दूसरे साधु की समकित को भी समकित नहीं समझता! गजब का

अंधेर है। एक या दो वर्ष दीक्षा लिये नहीं हुए और समझ कुछ आई नहीं है और कहने लगे—लो मेरी समकित।

और अबोध बच्चों को भी समकित दी जाती है। समकित क्या चीज़ है, यह न देने वाला जानता है और न लेने वाला ही जानता है। फिर भी आश्चर्य है कि देने वाला दे देता है और लेने वाला ले लेता है। समकित भी मानो रोटी-पानी है। जिसने जब जिसे देना चाहा, तब दे दिया! जैन-सिद्धान्त तो समकित के विषय में कुछ और ही बात बतलाता है। समकित आत्म विशुद्धि से उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबंधी कषाय के दूर होने से आविर्भूत होती है। वह बरदान या पुरस्कार में मिलने वाली चीज़ नहीं है। फिर भी आज वह देने और लेने की चीज रह गई है।

मैंने देखा—एक साधु थे जिन्हें अपने तत्त्व-ज्ञान का अभिमान प्रचुर मात्रा में था, किन्तु थे कोरे भद्रं भद्र ली। और उन्होंने मुझसे कहा—अजी, मैंने कितनों को ही तार दिया है।

मैंने पूछा—महाराज, कैसे तार दिया है आपने?

तब उन्होंने एक रजिस्टर दिखलाया। उस रजिस्टर को वे अपने साथ लिये फिरते थे। उसमें उनके द्वारा तिरे हुये भक्तों की सूची थी। सब के नाम-ठाम और पूरे पते लिखे थे। वह सूची दिखला कर वे बोले-मैंने इतनों को समकित देदी है।

मैंने पूछा—इनमें कितने जैन और कितने अजैन हैं ?

उन्होंने कहा—सभी जैन हैं।

बच्चे गए और उनको कहानी या भजन सुनाए और समकित देना शुरू कर दिया। उन बच्चों को क्या पता कि तुमने धर्म का दान दे दिया है या शिष्य बना लिया है। ऐसी स्थिति में क्या काम आया वह समकित का देना ?

हाँ, किसी एक आचार्य के नाम की ही समकित दिलाई होती तो संघैक्य की दृष्टि से कुछ न कुछ लाभ भी हो सकता था ! अपने-अपने नाम की समकित देने से वह लाभ भी तो नहीं हो पाता ! यह है आज की हमारी मनोदशा !

मैं एक जगह पहुँचा तो मुझसे पूछा गया कि गाँवों में प्रचार किया या नहीं किया ?

मैंने कहा—कैसा प्रचार ? प्रचार दो तरह का है—एक भगवान् महावीर का और दूसरा अपने-अपने व्यक्तित्व का। आप किस प्रचार की बात पूछ रहे हैं ?

आजकल भगवान् का और भगवान् की वाणी का प्रचार होता है या नहीं, महावीर की महत्ता के दर्शन कराये जाते हैं या नहीं, यह तो किनारे रहा, किन्तु अपने-अपने व्यक्तित्व का प्रचार जरूर किया जाता है।

गुरु साथ में हों तब भी अपनी ओर श्रद्धा मोड़ने का प्रयास किया जाता है। अपनी महत्ता का प्रचार करने की कोशिश की जाती है। इस कारण जनता के अंदर जीवन

नहीं रहा है। जनता की श्रद्धा बिखर गई है और जनता में धर्म का सौरभ नहीं रहा है। कागज़ की पुड़िया में रक्खा हुआ कपूर उड़ जाता है—अणु-अणु करके बिखर जाता है तो कोरा कागज़ रह जाता है, उसकी सुवास चली जाती है। सुवास तभी तक रहती है, जब तक उसके परमाणु इकट्ठे रहते हैं।

तो जनता के जीवन में धर्म की सुगन्ध पैदा करने के लिए उसकी श्रद्धा का केन्द्रीयकरण होना आवश्यक है। प्रत्येक साधु अपनी-अपनी प्रतिष्ठा का प्रचार न करे, अपनी ओर जनता को मोड़ने का प्रयत्न न करे—इसके विपरीत अगर केन्द्र की ओर उसके प्रयत्न मुड़ जाएँ, अगर वह व्यक्तिगत ख्याति लाभ की इच्छा का त्याग कर दे, तो मैं समझता कि छोटा साधु भी महान् बन जाएगा। ऐसी दशा में उसकी प्रतिष्ठा की क्षति नहीं होगी, उसमें वृद्धि ही होगी।

अभी-अभी आचार्य जवाहरलाल जी महाराज हो चुके हैं। उनसे आप सब भलीभांति परिचित हैं। मैं थोड़े समय तक ही उनके सम्पर्क में आया हूँ और थोड़ा ही परिचित हो सका हूँ। एक बार बातचीत चल रही थी तो उन्होंने कहा—मिट्टी का ढेला लेते हैं और सूत लपेट देते हैं तो वह गणेशजी बन जाता है। इसी प्रकार यदि छोटे से छोटे साधु को भी आचार्य बना दिया जाय और उसके प्रति श्रद्धा अर्पित की जाय तो वही महान् बन सकता है। हमारे यहाँ संस्कृतभाषा

में पुराने जमाने से कहावत चली आ रही है—

अश्माऽपि याति देवत्वं महाद्भिः सुप्रतिष्ठितः।

साधारण से पत्थर को जब बहुत लोग प्रतिष्ठा प्रदान करने लगते हैं तो उसमें देवत्व आ जाता है; अर्थात् देव समझा जाने लगता है। देखते-देखते ठुकराया जाने वाला पाषाण भी जब जन-समूह की श्रद्धा-भक्ति पाकर देवत्व की महिमा प्राप्त कर लेता है, तो साधारण साधु भी संघ के द्वारा श्रद्धा समर्पित करने पर महान् क्यों नहीं बन जाएगा? और इसके विपरीत, बड़े से बड़े ज्ञानी को आप आचार्य बना दें और सामूहिक रूप में उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति अर्पित न करें तो कुछ भी न होगा। वह ज्ञानी आचार्य भी निस्तेज और प्रभावहीन ही साबित होगा।

किसी भी एक व्यक्ति में जब संघ का अखण्ड तेज केन्द्रित हो जाता है तो वह महान् प्रभावशाली बन जाता है और उसका तेज इतना अधिक हो जाता है कि वह अकेले उसी व्यक्ति में नहीं समा पाता; उसकी प्रतिच्छाया सभी पर पड़ती है और उसका तेज संघ के प्रत्येक सदस्य को तेजस्वी बना देता है। संघ का तेज एकत्र पुंजीभूत होकर, सहस्र गुणा बढ़कर अत्यन्त शक्तिशाली बन जाता है और तब समग्र संघ को तेजोमय बना देने में समर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में इतर लोगों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और वे उसके प्रति अतिशय रूप से आकृष्ट होते हैं?

आचार्य जवाहरलाल जी महाराज की बात सुन कर मैंने सोचा—अगर संघ विचार करले कि हमें अमुक साधु को बड़ा बनाना है, उच्चकोटि का प्रभावशाली बनाना है और उसके पीछे सारी शक्ति लगा दी जाय और धूम मचादी जाय तो, उस साधु का व्यक्तित्व साधारण होने पर भी उसकी महिमा ऐसी बढ़ जाएगी कि जैन तो क्या जैनेतर भी समझने लगेंगे कि कोई बड़े ज्ञानी आये हैं।

और सचमुच कोई बड़े ज्ञानी भी आ गये और हलचल न मची तो क्या होने वाला है? वह भी औरों की तरह आएँगे और चले जाएँगे। कुछ प्रभाव नहीं पड़ने का, कोई आकर्षण नहीं होने का।

क्या आपके सिद्धान्त किसी से नीचे हैं? क्या आपके आदर्श किसी से हीन हैं? नहीं। आप ऊँचे सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी दूसरों के सामने फीके क्यों पड़ जाते हैं? कारण यही है कि दूसरों ने अपनी श्रद्धा को केन्द्रित किया है और आपने अपनी श्रद्धा को इधर-उधर बिखेर रक्खा है। वह श्रद्धा जब तक एक में केन्द्रित न होगी, संघ पनपने नहीं पाएगा।

कल्पना कीजिए, किसी ने एक बाग लगाया और जल की एक बूंद इस वृक्ष में तो दूसरी एक बूंद दूसरे वृक्ष में डाल दी तो क्या वह बगीचा पनपेगा? नहीं। हाँ यदि अनेक नगण्य वृक्षों को एक-एक बूंद से सींचने का मोह छोड़ कर

इने गिने चंद वृक्षों को ही लगाने का आदर्श रखा जाय, और उनको यथावश्यक जलधारा से सींचा जाय तो वे वृक्ष पनपेंगे, फूलेंगे और फलेंगे।

आज स्थानक-वासी सम्प्रदाय के संगठन की बात चल रही है और एक आचार्य बनाने की बात भी हो रही है। मैं चाहता हूँ कि ऐसा ही हो, किन्तु एक बात हमें स्मरण रखनी है। एक आचार्य बनाकर यदि समग्र संघ, उनके चरणों में अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा अर्पण करेगा तभी संगठन सफल होगा। इसके अतिरिक्त एक आचार्य बना लेने पर भी यदि साधु अपने-अपने शिष्य अलग-अलग बनाते रहे तो फिर अलग २ गुट बन जाएँगे। अतएव जो भी नये व्यक्ति दीक्षित हों, एक, मात्र आचार्य के शिष्य हों।

आज हमारी श्रद्धा आचार्य के प्रति उतनी नहीं है, जितनी अपने अलग-अलग गिरोह बनाने में है। आज का साधु अपनी समकित का प्रचार करने के लिये दौड़ धूप करता है। कहीं भी जाता है तो पहले समकित की बात कहता है? बच्चों से, युवकों से और बूढ़ों से वह पूछेगा—तुमने किसे गुरु बनाया है? अगर गुरु—आम्नाय नहीं ली है तो ले लो। और इस तरह बिना समझे-बूझे अंटसंट पाटियाँ बोल कर मानो गोबर का पिण्ड उसके पल्ले बाँध देता है! समकित लेने वाला सोचता है—बस, मेरा काम फतह हो गया। अब चौथे गुणस्थान में तो कोई कसर ही नहीं रही। महाराज

मेरे गुरू बन गए, अब करना ही क्या है ?

इस प्रकार उस भोले आदमी का विकास वहीं रुक जाता है। वह एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ पाता। उसमें झूठा आत्म-सन्तोष पैदा हो जाता है।

मतलब यह है कि जहाँ अपने व्यक्तित्व का प्रचार करने की वृत्ति होती है, वहाँ सारी श्रद्धा को केवल अपनी ओर ही बटोरा जाता है।

आज फूट के कारण हमारे समाज की दशा बद से बद-तर होती जा रही है। श्रद्धा इधर-उधर बिखर रही है। साधु अपनी खिचड़ी अलग पकाने में लगे हैं और श्रावक, साधुओं के मुँह से बड़ाई और प्रतिष्ठा पाने में लगे हैं। दोनों सत्य की राह से दूर होते जा रहे हैं। मनुष्य गुणों से ही बड़ा बनता है। गुणों से ही जीवन का विकास होता है और गुणों से ही आत्मा का कल्याण होता है। एकता और संगठन संघ का प्राण है। साधु और श्रावक इस तथ्य को समझें और संघ का और धर्म का प्रभाव बढ़ाने में तत्पर हों तो उनका भी कल्याण होगा।

भगवान् महावीर तो महामहिमा से मण्डित थे ही, किन्तु उस समय का जैन संघ भी अखण्ड था। लोगों की श्रद्धा बिखरी नहीं थी। समग्र संघ की श्रद्धा भगवान् के ही चरणों में अर्पित थी। यह सोने में सुगंध थी। इस कारण आनन्द जैसे जैनेतर लोग भी अनायास ही जैनसंघ में सम्मिलित हो

सके। आनन्द के चरित से यह एक बहुत महत्वपूर्ण सन्देश हमें मिल रहा है।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
१६-८-५०

आनन्द का प्रस्थान

यह श्रीउपासकदशांगसूत्र है और आनन्द के जीवन का वर्णन आपके सामने चल रहा है। आनन्द के घर सांसारिक दृष्टि से सब तरह का आनन्द है। उसके पास विपुल वैभव है और प्रचुर सम्पत्ति है। उसके घर में दिन-रात लक्ष्मी की झंकार होती रहती है; किन्तु लक्ष्मी की झंकार में भी वह धर्म के मार्ग को भूला नहीं है, अपने कर्त्तव्य को भूला नहीं है।

साधारण रूप से देखा जाता है कि मनुष्य जब अकिंचन होता है, उसे चारों ओर से गरीबी सताती है और वह आर्त्त हो उठता है, तो उसे भगवान् याद आते हैं, साधु याद आते

है और धर्म-कर्म की बात उसके मुँह से निकलती है। मगर ज्यों ही उसके भाग्य ने पलटा खाया, उसे लक्ष्मी की गर्मी मिली और धन का नशा चढ़ा कि दिल और दिमाग फिर गया। तब भगवान् को वह भूल जाता है और गुरु जी भी ताक में एक ओर रख दिये जाते हैं। तो धर्म-कर्म की बातें भी वह करना भूल जाता है। और इसी बात को एक कवि के शब्दों में यों समझिये—

> दुख में सुमरन सब करें, सुख में करे न कोय।
> जो सुख में सुमरन करे, दुख काहे को होय॥

कवि के कथनानुसार सुख में भगवान् को सभी भूल जाते हैं, और यहाँ पर 'सभी' शब्द का अर्थ है, अधिकांश लोग! वास्तव में, सांसारिक दृष्टि से अपने अच्छे दिनों में ज्यादा-तर लोग भगवान को भूल जाते हैं। सोने के सिंहासन का नशा एक बड़ा नशा है। वह नशा उस आदमी के दिल और दिमाग को पागल बना देता है। कहा गया है—

> कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
> वा खाये बौरात है, या पाए बौराय॥

कनक का अर्थ संस्कृत भाषा में सोना भी होता है और धतूरा भी होता है। कवि कहता है—कनक अर्थात् धतूरे की अपेक्षा कनक अर्थात् सोने में सैकड़ों गुना नशा ज्यादा होता है।

आप कहेंगे, सोने में नशा कहाँ है? धतूरे का नशा तो

प्रसिद्ध है, परन्तु सोने में नशा कहाँ से आया ? परन्तु ऐसी बात नहीं है। धन में बड़ा नशा है। धतूरे को हाथ में लिए रहिये, नशा नहीं चढ़ेगा। बोरी भरकर सिर पर रख लीजिए, तब भी नशा नहीं चढ़ेगा। खाएँगे, तभी नशा उसका चढ़ेगा। भीतर जायगा, हरकत शुरू करेगा, तब पागलपन शुरू होगा। परन्तु सोना तो दीख पड़ते ही नशा चढ़ा देता है और जब यह हाथ में आ जाता है तो मनुष्य धर्म-कर्म सभी को भूल गहरे नशे के बीच मदहोश हो जाता है। तो, इतनी बड़ी गर्मी है, सोने में ! इतना गहरा नशा है, इस कनक में !

सचमुच वे भाग्यशाली हैं जो सोने को पाकर भी उसे हजम कर जाते हैं। और जो हजम कर जाते हैं, उन्हें नशा नहीं चढ़ता। बोल-चाल में, व्यवहार में, बिरादरी में, परिवार में—कहीं भी नशा नहीं चढ़ता। उन्हें भाग्यशाली समझना चाहिए। अधिकांश लोग तो धन को पाकर पागल ही हो जाते हैं।

हाँ तो, मैं आनन्द की बात कह रहा हूँ। उसके पास कनक था, परन्तु उसका नशा उस पर नहीं चढ़ा था।

यों एक-दो रुपये की गर्मी भी बड़ी भयंकर होती है। हजार दो हजार तिजोरी में पड़ जाएँ तो जमीन पर पैर भी नहीं पड़ता। बहिनें गहने पहनकर जब बाजार में निकलती हैं तो उनकी यही भावना रहती है कि उनके गहनों की चमक सबको अपनी ओर आकर्षित करे। सभी उसके पास वाले

सोने को देखें। बिरादरी में किसी की साता पूछने जाएँगी तो उसके दुख-दर्द को पूछना तो दूर रहा, वहाँ भी अपने गहनों की ही चर्चा करेंगी। किसी आनन्द-उत्सव में जाएँगी तो वहां आनन्द के गीत नहीं गाएँगी, गहनों की ही चर्चा चलाएँगी। और धर्म का उपदेश सुनने आएँगी तो उपदेश नहीं सुनेंगी, गहनों की चर्चा सुनाएँगी। क्यों न हो, सोने की गर्मी जो है। उसे हज़म कर जाना क्या कोई साधारण बात है।

आनन्द के पास बारह करोड़ सोनैए का धन था। और वह धन आकाश से नहीं बरस पड़ा था, आख़िर कमाया हुआ आया था। उस लक्ष्मी की झंकार उसके यहां रहती थी। मगर आनन्द ने वह जादू पैदा किया था कि जहर खाकर भी उसे ज़हर नहीं चढ़ा। कनक को पाकर भी उसे नशा नहीं चढ़ने पाया।

अभिप्राय यह है कि धन ज़हर है और जो उसको अमृत बना सकता है—उस धन के द्वारा अपना और जनता का कल्याण कर सकता है, वह शिवशंकर बन जाता है।

आपने पुराण सुना होगा। जब देवी-देवता अमृत की खोज में भटकने लगे, तब उन्हें पता चला कि अमृत समुद्र में है। तब समुद्र को मथने का विचार किया। मथने लगे तो सबसे पहले ज़हर निकला। पहले अमृत नहीं निकला, हलाहल ज़हर निकला। देवी-देवता विचार में पड़ गए कि कौन

पीए जहर ? जो पीएगा वही समाप्त हो जाएगा और फिर अमृत उसके क्या काम आएगा ?

इन्द्र से कहा गया—तुम बहुत शक्तिशाली हो और देवों के राजा कहलाते हो। तुम इसे ले लो ! तुम इसे पी लो।

इन्द्र ने कहा—क्यों, मुझे मार डालना चाहते हो क्या ?

विष्णु से कहा गया—तुम्हीं इसे ग्रहण करो।

तब विष्णु बोले—हमारी भी हिम्मत नहीं है। हम तो अमृत के लिए आए थे, जहर पीने के लिए नहीं।

शंकर ने कहा—अमृत तो मिलने ही वाला है, किन्तु अगवानी जहर से है। जिसमें जहर पीने का सामर्थ्य होगी, वही अमृत भी पी सकेगा। अगर हम इस जहर को नहीं पचायेंगे तो अमृत कहाँ से पाएँगे ? और पाएँगे भी तो उसे कैसे पचाएँगे ?

तब ही किसी ने कहा—तो शंकर जी, आप ही इसे पी डालिए न ?

और शंकरजी ने उस जहर को शान्त भाव से पी लिया। उसे अन्दर नहीं उतरने दिया, और न बाहर ही आने दिया। गले में ही रख लिया, कंठ में ही दबा लिया। और इस कारण वे नीलकण्ठ हो गए।

शंकर जहर को पीकर हजम कर सके तो वे शिव शंकर बने और उन देवी-देवताओं को अमृत पान करा सके।

जो मनुष्य, समाज का अगुआ या नेता बनना चाहता है

और देश का, परिवार का या पंचायत का मुखिया बनना चाहता है, उसे ज़हर पीने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। उसके लिए उसकी निन्दा, द्वेष और घृणा आदि ज़हर ही हैं और ज़हर से भी बड़े ज़हर हैं। किसी की निन्दा हुई और वह ज़हर खाकर मर गया। वह क्यों मर गया? इसलिए कि वह निन्दा के ज़हर को हजम नहीं कर सका।

तो नेता को पहले क्या मिलता है? बड़े बनो और हर तरफ से फूलों के हार ही मिलें, यह मुश्किल ही समझो।

राष्ट्र की बात तो दूर रही, जिसे अपने परिवार का नेता भी बनने का सौभाग्य मिलता है, उसे भी ज़हर ही पीने को मिलता है। अमृत दूर है। परिवार वालों से सेवाएँ मिलना तो अभी दूर हैं, पहले संघर्ष है! द्वेष, ईर्षा और घृणा आदि को शान्त भाव से पीना पड़ेगा और उसे भीतर तक नहीं उतरने देना होगा! तब कहीं शंकर बना जाएगा। किसी कवि ने कहा है—

> मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं।
> किन्तु हलाहल इस जगती का शिवशंकर ही पीते हैं॥

मनुष्य संसार में आता है और आँख खोलते ही दूध पीता है और बढ़ता जाता है। राक्षस खून पीता है और गुल-छर्रे उड़ाता है। उसे दूसरे का रक्त पीते समय तनिक भी दया नहीं आती। वह तो उसकी प्रकृति है। और देवता अमृत पर जिया करते हैं।

हाँ, तो मनुष्य दूध, राक्षस रक्त और देवता अमृत पीते हैं, किन्तु उस हलाहल ज़हर को कौन पीता है ? उसे तो शिव-शंकर ही पीएँगे। वह शंकर, जो जगत को सुख-शान्ति देने को आए हैं। उसका कल्याण करने आए हैं।

यह कथा तो एक अलंकार है, वस्तु स्थिति क्या है, इसी बात पर ध्यान दीजिए। आप तो अपने जीवन की कहानी पढ़िए, उस पर विचार कीजिए और जीवन के समुद्र का मन्थन कीजिए।

जब समाज या राष्ट्र का मन्थन किया जाता है तो पहले संघर्ष का ज़हर निकल कर सामने आता है। उसे पीकर भी मरना नहीं होगा। जो उसे पीकर मर गया, वह गया और जो उसे हज़म कर गया, वह अमृत का भागी बन गया, अमर बन गया और शंकर बन गया।

कई भाई उपवास में भी पारणा की चर्चा करते हैं। एक दूसरे को पारणा के लिए आमंत्रण देते हैं और कहते हैं—मेरे यहाँ पारणा करना ! इस प्रकार उपवास में भी पारणा की चर्चा चल पड़ती है; किन्तु ऐसा करना उचित नहीं। पारणा के दिन ही पारणा का स्मरण करना चाहिए। मगर जब उपवास में चर्चा चल पड़ती है तो कहते हैं—मैं इतना दूध या घी पी सकता हूँ !

दूसरा कहता है-पी तो जाओगे, किन्तु हज़म भी कर सकोगे या नहीं ? घी पीने का मतलब यह नहीं कि नाल की

तरह मुँह में उड़ेल लिया। घी और दूध मर्त्यलोक का अमृत कहलाता है, किन्तु जब हजम नहीं होता तो वही ज़हर बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य जिसे हजम कर सकता है, वह अमृत हो जाता है और जिसे हजम नहीं कर पाता, वह अमृत भी ज़हर का काम देता है। तो, अमृत या ज़हर का मिलना या पीना बड़ी बात नहीं है, किन्तु उसे हजम कर जाना ही बड़ी बात है।

तो, धन जब हजम नहीं होता तो वह भी नशा और ज़हर बन जाता है। हम भी कहते हैं और हजारों अन्य परम्पराएं भी इसे ज़हर कहती चली आई हैं। गुरु के गुरु ने भी यही कहा है कि यह ज़हर है।

आपके पूर्वजों ने, जिन्होंने इस संबंध में विचार किया है, यही कहा है। वे रणजीतसिंहजी हों या दलपतसिंह जी हों, गृहस्थी में रहकर भी, दलदल में रह कर भी उन्होंने क्या विचार किया है और अपने जीवन को क्या समझा है? वे यही कहते हैं कि यह ज़हर है और इसे पी रहे हैं तथा हज़म कर रहे हैं! सौ सयाने एक मता! जितने भी ज्ञानी हो गए हैं, सब ने धन को ज़हर कहा है।

आनन्द के पास बारह करोड़ का धन था और चालीस हजार गायें थीं और इतने धन के साथ उसे बहुत बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। अपने नगर में वह राजा के बराबर प्रति-

ष्ठित समझा जाता था। इतनी महान् प्रतिष्ठा किसे मिलती है ? उसके लिए यह गौरव की बात थी। मगर एक आनन्द था कि इस जहर को पीकर हजम कर सका ? वह हजम कर सका, इसी कारण उसे नशा नहीं चढ़ा।

आनन्द अपने कर्त्तव्य को नहीं भूला। जब उसे मालूम हुआ कि भगवान् पधारे हैं, तो क्या वह बैठा रहा ? उसने इससे पहले भगवान् के दर्शन नहीं किये थे। वह जैन नहीं बना था, फिर भी अपने साथियों से, नगर-निवासियों से उसने भगवान् की महिमा सुनी और उसकी धार्मिक मनोवृत्ति होने के कारण उसकी भावना जागी। उसका मन सद्गुरु के चरणों की खोज में रहा था। अतएव श्रद्धाशील भक्त आनन्द के हृदय में आनन्द की लहर पैदा हुई। वह उस लहर में बह गया और भगवान् के दर्शन करने, उनकी वाणी सुनने और उपासना करने के लिए तैयार हो गया। उसने सोचा—

एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं महाफलं ······ जाव गच्छामि ······ जाव पज्जुवासामि; एवं संपेहेइ।

इस प्रकार विचार करके उसने स्नान किया और शुद्ध वस्त्र धारण किये।

राज-सभा की वेषभूषा अलग है, बिरादरी और सभा-सोसाइटी में जाने की वेषभूषा अलग है और धर्म-सभा की वेशभूषा न्यारी है।

आनन्द ने जो वस्त्र पहने वे सादे और शुद्ध थे। वस्त्र शुद्ध कैसे होते हैं ? वस्त्रों में कोई काम, क्रोध, मोह, माया आदि तो होते नहीं; तो उनकी शुद्धता यही है कि उनमें मैल न हो, कुत्सित व गंदे न हों और ऐसे न हों कि पहन कर जाने पर लोगों को घृणा उत्पन्न हो, उनकी सुरुचि में गड़बड़ पैदा हो !

मनुष्य को समाज में रहना है तो उसे वस्त्र भी समाज के योग्य ही पहनने चाहिएं। समाज के योग्य होने का अभिप्राय यह भी नहीं कि तड़क भड़क वाले हों। वस्त्र ऐसे भी न हों कि जिन्हें पहन कर समाज में जाने पर अलग ही दिखाई दें! वस्त्र साधारण हों, मगर गंदे और मैले न हों। सुधर्मा स्वामी ने यहाँ तड़क भड़क का वर्णन नहीं किया है कि जो बिजली की तरह चमचमाते हों! वे यही कहते हैं—कि ठीक थे, सादे थे और शुद्ध थे।

अभिप्राय यह है कि वस्त्र ऐसे होने चाहिएँ जो समाज में पहन कर जाने पर न तो गंदगी और मलीनता के कारण कुरुचि पैदा करें और न ऐसे हों कि अपनी तड़क-भड़क के कारण दूसरों के दिल में डाह और ईर्षा पैदा करें। आपके वस्त्रों को देखकर दूसरे लोग न घृणा से मुँह फेर लें और न यही सोचें कि इन्होंने ऐसे वस्त्र पहने हैं तो मैं भी ऐसे ही मूल्यवान वस्त्र बनवाऊँ।

कई लोग गंदे और मैले-कुचैले वस्त्र पहनते हैं और ऐसा करने में वे अपने त्याग की उच्चता समझते हैं और समझते...

हैं कि साफ-सुथरे वस्त्र पहनने से हमारा त्याग नीचा हो जाएगा। उन्होंने वस्त्रों की मलीनता में ही अन्तःकरण की उज्ज्वलता समझ रक्खी है। मगर वस्त्रों की मलीनता आत्मा को निर्मल नहीं बना सकती। अतएव यह समझना गलत है कि वस्त्रों के मैले होने से त्याग ऊँचा होता है और वस्त्र साफ सुथरे हों तो त्याग नीचा होता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जिनके पास सम्पत्ति है, वे उसका उपयोग कर लेते हैं, परन्तु बेचारे गरीबों की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। वे नहीं सोचते कि गरीबों पर मेरे बहुमूल्य वस्त्रों का क्या असर पड़ रहा है और वे ऐसे वस्त्र कैसे बनवाएँगे? ऐसे लोग गरीबों के दिल में काँटा पैदा कर देते हैं। किन्तु अच्छा नागरिक वही है जो समाज में फूल बनकर रहे, कांटा बनकर नहीं। जो फूल बनकर रहते हैं, उन्हें कहीं भी सभा-सोसाइटी में जाने का अधिकार है और वे कहीं भी पहुँच सकते हैं। और वे जहां कहीं पहुँचेंगे, अपने सादा रहन-सहन के कारण दूसरों के दिल में डाह पैदा नहीं करेंगे। इसके विपरीत, जो दूसरों की आँखों में खटकने वाले, गरीबों के अन्तःकरण में ईर्ष्या की आग जलाने वाले और खुद में अकड़ पैदा करने वाले वस्त्र पहनते हैं, ऐसे नागरिकों को सभा-सोसाइटी में जाने का अधिकार नहीं है। वे आग लगाने वाले हैं, आग बुझाने वाले नहीं। तो, होना यह चाहिए—

हम आग बुझाने वाले हैं, हम आग लगाना क्या जानें।

श्रीमंत की श्रीमंताई आग लगाने में नहीं है, आग बुझाने में है। वे जहाँ कहीं जाएँगे और वहाँ घृणा, द्रोह, डाह, ईर्षा और वैमनस्य की आग लगी होगी तो वे उसे बुझाएँगे, तो जनता उनका सच्चा सम्मान करेगी, उनकी प्रशंसा करेगी और कहेगी—नहीं साहब, करोड़पति होकर भी कितना सादा रहन-सहन है, उनका ! इस प्रकार वे आपके द्वारा आदर्श ग्रहण कर सकेंगे। तो आपको दूसरों के अनुकूल बनना चाहिए।

बहिनो ! तुम भी जब निकलो तो तुम्हारी वेषभूषा ऐसी हो कि लोग कहने लगें—करोड़पति घराने की बाई कितने सादे वस्त्र पहने है। और लोग अपने पुत्र, पौत्र और पुत्री वगैरह को दृष्टान्त के रूप में तुम्हारा नाम लेकर शिक्षा दे सकें। इस प्रकार की जिंदगी को मैं महत्त्व की जिंदगी समझता हूँ। शास्त्रकार आनन्द के विषय में कहते हैं—

एवं संपेहेत्ता ण्हाए, सुद्धप्पवेसाइं.....जाव अप्पमहग्घा भरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ।

अर्थात्—इस प्रकार विचार कर आनन्द ने स्नान किया, शुद्ध और सादे वस्त्र धारण किये और अल्प तथा मूल्यवान् आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया और प्रभु के दर्शन के लिए अपने घर से निकल पड़ा।

आनन्द ने जो वस्त्र पहने वे शुद्ध अर्थात निर्मल थे। गंदे

नहीं थे, समवसरण में जाने योग्य थे।

मैंने कई गाँवों में देखा है कि श्रावकों की मुखवस्त्रिका, आसन और पूंजनी आदि जो भी धर्मोपकरण होते हैं इतने गंदे होते हैं कि सड़ते रहते हैं; बदबू देते हैं और पता नहीं जब से लिये हैं, कभी भी स्वच्छ किये भी गये हैं या नहीं? ऐसे उपकरणों को देख कर दूसरे लोग धर्म की अवहेलना करते हैं। उन्हें इस बात का भी ध्यान नहीं होता कि गन्दगी से संमूर्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है। उलटा, वे तो गंदगी रखने में धर्म समझते हैं। उनकी समझ में जहाँ जितनी गंदगी होगी, वहाँ उतना ही धर्म होगा!

मगर लोगों ने यह गलत रास्ता अख्तियार कर रक्खा है। प्रायः धर्म के क्षेत्र में व्यवहार को और व्यवहार के क्षेत्र में धर्म को भुला दिया जाता है। किन्तु जब तक आत्मा शरीर से बिलकुल जुदा नहीं हो जाती, तब तक धर्म और व्यवहार भी एकदम अलग-अलग नहीं हो सकते। इस सचाई को हमें भूलना नहीं चाहिये।

आनन्द ने सादे और स्वच्छ वस्त्र तो पहने ही थे, साथ ही उसके पहनने का ढङ्ग भी अच्छा था। वस्त्र मिल गये और साफ-सुथरे भी हुए, किन्तु उनके पहनने का ढङ्ग ठीक न हुआ, सलीका न हुआ तो सब गुड़-गोबर हो गया। वस्त्र सादे हों और स्वच्छ हों और उनको पहनने का सलीका भी हो, जिससे वे देखने वालों को भले लगें। यह भी एक कला

है। इस कला के अभाव में, वस्त्रों में चाहे रत्न टांक दें, वे अच्छे नहीं लगेंगे। अतएव आनन्द ने सलीके के साथ वस्त्र धारण किये।

आप कहेंगे कि महाराज तो गृहस्थों की बातों में उलझ गये। अच्छा तो आगे चलता हूँ; किन्तु भाई, आगे की बात भी संसार की ही है। और वह है कि आनन्द ने ऐसे गहने पहने जो वजन में हल्के, किन्तु कीमत में भारी थे।

इस सम्बन्ध में, मेरा जो दृष्टिकोण है, वह आपको बतला दूँ। 'अप्प-महग्घाभरण' का अर्थ साधारण तौर पर यह किया जाता है कि गहने वजन में अल्प थे, पर मैं समझता हूँ कि गहने ही अल्प थे। दोनों अर्थों का अन्तर आपकी समझ में आ जाना चाहिए, बहुत गहने भी वजन में अल्प हो सकते हैं, पर मूल पाठ में ऐसा कोई शब्द नहीं, जिससे 'अप्प-अल्प' को वजन का विशेषण समझा जाय। यहाँ वजन की कोई बात ही नहीं है। अल्प शब्द 'आभरण' का विशेषण है और उसका सीधा अर्थ यही होता है कि आनन्द ने जो गहने पहने, वह संख्या में थोड़े थे, किन्तु बहुमूल्य थे।

मध्यकाल में गहने पहनने का रिवाज ज्यादा था। आज कम होता जा रहा है। विशेषतः पुरुष वर्ग बहुत कम गहने पहनता है। बहिनें तो आज भी अपने अङ्ग-अङ्ग में गहने पहनती हैं और इधर मारवाड़ में तो और भी ज्यादा। उनका वश चले तो वे आँख की पलकों में भी कोई गहना पहन लें,

पर यह उनके वस की बात नहीं है।

मैं पूछता हूँ, यह शरीर किसलिए मिला है? साधना करने के लिए, काम करने के लिए या गहने पहनने के लिए? आँखें देखने के लिए, कान सुनने के लिए और नाक खुशबू-बदबू मालूम करने के लिए है। परन्तु कान-नाक को छेद-छेद कर उन पर भी गहने लाद दिये गये हैं। हाथ पुरुषार्थ करने के लिए हैं, किन्तु उन्हें भी गहनों से विभूषित कर लिया जाता है। पैर चलने-फिरने को हैं, लेकिन वे भी गहनों की घोड़ी बन गये हैं। गर्दन शरीर का महत्वपूर्ण भाग है, जो आँख कान आदि अवयवों को अपने ऊपर धारण किये हुए है; किन्तु उसे भी हार आदि अनेक गहनों से लाद लिया जाता है।

अकेली आँखें कैसे बच गईं, समझ में नहीं आता। इन बेचारियों का क्या अपराध हुआ कि इन्हें नहीं सिंगारा गया? अथवा आँखों ने कोई पुण्य किया होगा कि वे गहनों की बोझा ढोने से बच गई हैं?

इस प्रकार सारा शरीर गहनों से लाद लिया जाता है और यह भुला दिया जाता है कि वास्तव में शरीर किस लिए मिला है? शरीर का मुख्य उद्देश्य गहने पहनना ही समझ लिया गया है। जहाँ ऐसी स्थूल दृष्टि हो वहाँ सूक्ष्म तत्त्वों की क्या चर्चा?

तो यहाँ वजन में कम हो या ज्यादा हो, यह प्रश्न नहीं

है। आनन्द ने जो गहने पहने वे अल्प थे। घर में जो कुछ हो, सब लाद कर वह नहीं चला था। उस समय की सामाजिक परिपाटी को निभाने की दृष्टि से उसने थोड़े से गहने पहन लिए थे, परन्तु थे वे बहुमूल्य।

शब्दशास्त्र की दृष्टि से यही आशय उचित मालूम होता है। पहले 'वजन' या उसके पर्याय वाचक किसी शब्द को कहीं से घसीट कर लावें और फिर 'अल्प' शब्द के साथ उसका नाता जोड़ें; इतनी क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या है? उस 'अल्प' का आभरणों के साथ जो सीधा सम्बन्ध है, उसे तोड़ने की भी क्या आवश्यकता है?

हाँ, अर्थ में कोई असंगति पैदा होती हो तो क्लिष्ट कल्पना का भी आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यहाँ तो असंगति के बदले संगति ही ज्यादा दिखाई देती है। भगवान् की सेवा में, आनन्द जैसा धर्म प्रेमी गृहस्थ, बहुत सारे गहने पहन कर जाय, इस कल्पना के बदले थोड़े-से गहने पहन कर जाना ही अधिक युक्ति-संगत ज्ञात पड़ता है। ऐसी स्थिति में जोड़-तोड़ करने की अपेक्षा मूलपाठ का सरल और सीधा अर्थ करना ही योग्य है।

मैंने इस वाक्य का यही अर्थ समझा है और आपको संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया है। मेरी बात आपकी समझ में न आए तो मेरी बात मेरे पास है।

तो इस प्रकार तैयार होकर आनन्द अपने घर से निकला-

और दर्शन करने के लिए चला। उसने छत्र धारण किया। छत्र के ऊपर फूल मालाएँ पड़ी हुई थीं। कोणक बहुत पुराने पौधे का नाम है। आजकल जाँच हुई है और विचारकों ने निर्णय किया है कि वह हजारा है। इसके फूल सफ़ेद, पीले और लाल होते हैं। इस प्रकार हजारे के फूलों की मालाएँ आनन्द के छत्र पर पड़ी हुई थीं।

सुना गया है कि आजकल छत्र धारण करने में भी जाति-पाँति का प्रश्न पैदा हो जाता है। जहां तक छत्र का प्रश्न है, जातिविशेष के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। आप ऊँची जाति के लोग तो छत्र लगाकर चलें और कोई छोटी समझी जाने वाली जाति का व्यक्ति छत्र लगाए तो उसे सहन न कर सकें और संघर्ष करने लगें, यह उचित नहीं है। मैंने सुना है कि बड़ी जाति वालों ने छोटी जाति वालों के छत्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और कहा, तुम छत्र लगाओगे तो हम क्या लगाएँगे?

इसी तरह छोटी जाति वाले घोड़े पर चढ़ते हैं तो बड़ी जाति वाले कहते हैं, तुम घोड़े पर चढ़ोगे तो हम क्या करेंगे? सुना है, राजस्थान में कई जगह अन्य बहिनों को पैर में चाँदी के गहने नहीं पहनने दिये जाते। इस बात को लेकर कभी-कभी बड़ा संघर्ष हो जाता है और इन संघर्षों में अब तक कइयों की जान चली गई है। यह सब बड़ी जाति वालों का बड़ा अन्याय है। यही हाल रहा तो कल कोई कहने

लगेगा-तुम अन्न खाना और पानी पीना भी छोड़ दो; तुम अन्न खाओगे, तो हम क्या खाएँगे ? तुम पानी पीओगे तो हम क्या पीएँगे ?

×

हाँ तो, इस प्रकार आनन्द जब रवाना हुआ तो वह अकेला नहीं था। अच्छी खासी मनुष्यों की टोली उसके साथ थी और वह आनन्द पूर्वक भगवान् के समवसरण की ओर जा रहा था।

कहाँ से इकट्ठी की आनन्द ने वह टोली ? जान पड़ता है, वह उसके परिवार की टोली होगी और उसमें उसके खास-खास मिलने-जुलने वाले, संगी-साथी और नौकर-चाकर होंगे।

घर में कोई आनन्द-उत्सव हो और मिठाई बनी हो तो सब परिवार एवं नौकरों-चाकरों को इकट्ठा करके ही खाया जाता है; अकेले नहीं। सब साथ बैठकर खाते हैं, तभी आनन्द आता है। कोई अच्छी चीज अकेले खाली तो जीभ को भले ही मिठास आ गई, किन्तु हृदय में मिठास पैदा नहीं होती। चीज की मिठास आ जाती है; परन्तु प्रेम और आनन्द की मिठास नहीं आती। और साथ में बैठकर खाई हुई चीज की मिठास उस मिठास से हजार गुनी ज्यादा होती है। उस मिठास का मूल्य नहीं आंका जा सकता।

तो जब आनन्द को मालूम हुआ कि भगवान् महावीर

पधारे हैं, तो उसने बहुतों से कहा-चलो ! जीवन का संघर्ष तो सदा ही चलता रहेगा। किन्तु का पदार्पण कब-कब होता है ? ऐसा सौभाग्य कब-कब मिलता है ? यह कल्पवृक्ष घर के आंगन में आ गया है और यह गङ्गा बार-बार आने वाली नहीं है। लोग दूर-दूर से जिनका दर्शन करने आते हैं; वह हमारे तो घर में ही पधार गये हैं। तो क्यों न सब के सब दर्शन करने चलें और अपना जीवन सफल करें ?

मैं समझता हूँ, आनन्द ने अपनी शान के लिए टोली नहीं बनाई होगी। फिर भी निश्चित रूप में कैसे कहा जा सकता है कि उस समय आनन्द की मनोवृत्ति कैसी रही होगी ? किन्तु आनन्द का मन धर्मोल्लास से भरा है, ऐसी स्थिति में यह संभावना कम ही है कि वह अपने यश के लिए इतनी बड़ी भीड़ लेकर चला होगा।

जो भी हो, आनन्द जन-समूह के साथ प्रभु के दर्शन करने को चला, तो रास्ते में से भी वह दूसरे लोगों को अपना साथी बनाता चला होगा और इस तरह उसके साथ एक बड़ा-सा जन-समुदाय इकट्ठा हो गया होगा।

जहाँ लड्डुओं की प्रभावना बँटती है, वहाँ कोई अकेला नहीं जाता, वरन् घर के तमाम बाल-बच्चों को साथ लेकर जाता है। एक इस हाथ की तरफ़ है और दूसरा उस हाथ की तरफ़ है। एक आगे है तो एक पीछे है। लड्डुओं की प्रभावना जो बँट रही है।

तो यहाँ भी तो लड्डुओं की प्रभावना बटने वाली है। अजी, लडडुओं की क्या, अमृत की प्रभावना होने वाली है। महाप्रभु महावीर के मुखचन्द्र से अमृत की वर्षा होने वाली है। लड्डू तो थोड़ी देर तक मुँह मीठा रखता है, परन्तु यह अमृत तो ध्रुव माधुर्य पैदा करने वाला है। सदा के लिए तृप्ति प्रदान करने वाला है। इस अमृत को कौन विवेकवान् नहीं पीना चाहेगा ? कौन अपने परिवार को उससे वंचित रखना पसन्द करेगा ? बस, आनन्द अपने परिवार के साथ रवाना हुआ।

इसे कहते हैं सामूहिक जीवन और सामूहिक भावना। परिवार में सब समान योग्यता वाले नहीं होते। हाथ की पाँचों उँगलियां बराबर नहीं होतीं, उसी प्रकार परिवार में भी सब समान नहीं होते। आप धर्मकार्य में हिस्सा लेते हैं। सामायिक करते हैं और दर्शन करते हैं, यह ठीक है, किन्तु आपको अपने परिवार में सामूहिक रूप से चेतना जागृत करनी चाहिए। छोटी या बड़ी जाति के जितने भी सदस्य हैं, सब को प्रेरणा देनी चाहिए। यह तो धर्म का क्षेत्र है। यहाँ सब एक ही बिरादरी के हैं;—केवल मानव।

इस धर्मस्थान में सब भाई-भाई हैं। सभी एक पिता की सन्तान हैं। भगवान् महावीर सभी के पिता हैं और सब उन्ही की सन्तान है। भाई-भाई में जाति-पाँति का प्रश्न क्या ? छोटे-बड़े की कल्पना कैसी ?

यहाँ आकर भी अगर आप अपने को ओसवाल और अग्रवाल समझते रहे तो आपका उद्धार फिर कहाँ होगा? आपका यह बहिरात्मभाव किस जगह मिटेगा? अपने को चिदानन्दमय समझने की कौन-सी जगह होगी?

भगवान् ने तो कहा है—

'न दीसई जादूविसेसु कोई'।

अर्थात्-मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं और एक सरीखे हैं। उनमें जातिगत् कोई विशेषता नहीं दीखती। किसी के चेहरे को देखकर आप नहीं पहचान सकते कि अग्रवाल है या ओसवाल है; ब्राह्मण है या क्षत्रिय है? मनुष्य-मनुष्य में कुछ अन्तर अवश्य होता है, और किसी भी एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ हूबहू हुलिया नहीं मिल सकता, तथापि वह अन्तर जाति का अन्तर नहीं है। घोड़े और गाय को देखते ही जैसे उनकी जाति का पता लग जाता है, उस प्रकार मनुष्य को देखकर नहीं जाना जा सकता कि यह ओसवाल है या अग्रवाल है।

अतएव यह जातियाँ कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर आप धर्मस्थान में आकर भी यह भावना नहीं जगा सकते तो कहाँ जगाएँगे? जब आपमें एकत्व की भावना आ जाएगी तो हम समझेंगे कि आपमें धर्म का प्रेम जाग्रत हो गया है।

तो आनन्द सामूहिक रूप में प्रभु के दर्शन करने जा रहा है। सम्भवतः उसके समूह में जात-पांत का कोई भेद नहीं है और वह जहाँ जा रहा है, वहाँ तो जात-पांत की कल्पना ही नहीं है।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२१-८-५०

———

पुण्य-पाप की गुत्थियां

यह श्रीउपासकदशांग सूत्र है और आनन्द के जीवन का वर्णन आपके सामने चल रहा है। श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम में पधारे हैं और आनन्द उनका पावन प्रवचन सुनने के लिए उनकी ओर जा रहा है।

आनन्द किस रूप में जा रहा है, यह बात सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से इन शब्दों में कही—

पडिनिक्खमित्ता सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं
धारिज्जमाणेणं, मणुस्सवग्गुपरिक्खित्ते, पायविहार
चारेणं वाणियगामं नयरं मज्झं मज्झेण निग्गच्छइ

अर्थात्-आनन्द अपने घर से निकल कर, हजारे के फूलों

की मालाओं से सुशोभित छत्र को धारण किये, मनुष्यों के समूह से घिरा हुआ, पैदल ही, वाणिज्यग्राम नगर के बीचों-बीच होकर निकलता है।

यह मूल पाठ के शब्दों का अर्थ है। इस पाठ में आई हुई और-और बातों पर कल प्रकाश डाला जा चुका है। इस समय एक बात पर प्रकाश डालना है, जो विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

अगर आप शब्दों पर विशेष रूप से ध्यान देंगे तो आनन्द के हृदय को अच्छी तरह समझ सकेंगे और उसकी भावनाओं का सही आभास पा लेंगे।

आनन्द महान् वैभवशाली होने पर भी इतनी सात्विक वृत्ति वाला है कि प्रभु के दर्शनों के लिए पैदल जा रहा है। उसने किसी सवारी का उपयोग नहीं किया। वह मनुष्य-वृन्द के साथ स्वयं भी पैदल चल रहा है और नगर के बीचों-बीच राजमार्ग से होकर। आप देख चुके हैं कि वह बड़ा धनपति है और धनकुबेर कहलाता है तो क्या उसके यहाँ सवारियों की कमी होगी? वह हाथी पर, घोड़े पर, रथ पर या पालकी पर भी चढ़ सकता था। फिर भी वह भगवान् के दर्शन के लिए पैदल जा रहा है।

इस रूप में अपने शरीर को श्रम के साथ जोड़ने की महत्वपूर्ण बात आपके सामने आ रही है। जब मनुष्य धन प्राप्त कर लेता है और पूँजी का संचय कर लेता है तो वह

अपने शरीर से काम लेना भूल जाता है। वह समझने लगता है कि वह अपना बोझा दूसरों पर लाद कर चलने के लिए है और उसके स्वयं के हाथ-पैर काम करने के लिए नहीं हैं। और इस असमीचीन विचार से प्रेरित होकर धनवान् अपने जीवन को परावलम्बी बना लेता है। वह अपने शरीर को फुलाता जाता है; और उससे कुछ भी काम नहीं लेता है। इस स्थिति को लोग पुण्य की लीला समझ कर श्रम के महत्त्व को भूल जाते हैं। तो इस तरह जीवन को पराश्रयी बना लेने में महत्त्व समझा जाता है, बड़प्पन माना जाता है।

यद्यपि धनवान् की दृष्टि में यही सही है; किन्तु वास्तव में यह दृष्टि से सही नहीं, गलत है।

श्रम अपने आपमें महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है। उसे हम अच्छी तरह समझ नहीं पाते हैं। और कभी-कभी इसके साथ पुण्य और पाप की परिभाषाएँ भी जोड़ देते हैं। और जब जोड़ देते हैं तब एक नवीन समस्या खड़ी हो जाती है।

जो आदमी अपने शरीर से काम न ले और अपने हाथों-पैरों को बेकार रक्खे, अर्थात् खुद काम न करे और दूसरों से ही सारा काम करवाये, वह भाग्यशाली है? जो जितना काम करना छोड़ता जाय और दूसरों से कराता जाय, अर्थात् जो जितना अकर्मण्य, परावलम्बी और परमुखापेक्षी हो, उसे उतना ही पुण्यवान् समझना चाहिए? आज से नहीं, पहले से ही भारतवर्ष के मन में, बैठ गया है कि अपने आप

काम न करना पुण्य का उदय है। अपने लिए दूसरों का उपयोग करना पुण्य की निशानी बन गई है। इसीलिए यह दृष्टि बन गई है कि जो बड़े हैं, वे दूसरों के सहारे चलें और जो जितने दूसरों के सहारे चलेंगे, वे उतने ही भाग्यशाली करार दिये जाएँगे।

इस मिथ्या भ्रम के पैदा हो जाने के कारण शरीर की कीमत गिर गई और साथ-साथ पाप और पुण्य की व्याख्याएँ भी उलझ गईं।

जो सड़क पर से पैदल गुजर रहे हैं, वे चाहे कितनी ही धार्मिक वृत्ति के हों, उन्हें हल्का कहेंगे और पाप का उदय समझेंगे। और जो मोटर में निकलेंगे उन्हें पुण्य का फल भोगने वाला कहेंगे। हम विचार करना चाहते हैं कि इस समझ में कहीं गलतफहमी तो नहीं आ गई है?

एक बार मैं एक पुराने संत का प्रवचन सुन रहा था उन्होंने एक दृष्टान्त देना शुरु किया—

एक राजा था। वह घोड़े पर चढ़ कर सैर करने गया। किन्तु घोड़े को छोड़कर हाथी पर चढ़ गया और फिर हाथी से उतर कर पालकी में बैठ गया। बाद में पालकी को भी छोड़ दिया और एक वृक्ष के नीचे मसनद और गद्दी लगा कर लेट गया। इधर-उधर से नौकर आकर पैर दबाने लगे।

तब किसी ने कहा, यह क्या हुआ? यह घोड़े पर चढ़ा, हाथी पर चढ़ा और पालकी पर चढ़ा, डग भर भी पैदल नहीं

चला, इतने पर भी पैर दबवा रहा है। यह थक कैसे गया ?

यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो समाधान भी किया गया कहा गया—यह थकावट यहाँ की नहीं है। इन्होंने पूर्व-जन्म में बहुत बड़ा तपश्चरण किया है। तो ध्यान किया होगा, कायोत्सर्ग किया होगा और कंकर-पत्थरों पर चले होंगे और उग्र विहार किया होगा। यह थकान तब की है। वही अब मिटाई जा रही है। वह थकान इतनी ज़बर्दस्त थी कि उसे दूर करने के लिए आज तक उपाय किये जा रहे हैं।

जो लोग धन की ऊँचाई पर चढ़ गए हैं, उन्हें स्वयं काम न करने की प्रेरणा इसी दृष्टि से मिलती है। वे इन विचारों को सुनते हैं, और प्रायः सुना ही करते हैं, तो स्वयं काम करने से विरत हो जाते हैं और दूसरों से काम कराने में ही अपना सौभाग्य समझते हैं। ऐसे ही लोग घोड़े, हाथी और पालकी पर चढ़ कर भी पैर दबवाने को तैयार रहते हैं। कोई श्रम नहीं करता है, फिर भी पैर दबवाता है। ऐसा न करेंगे तो लोग कैसे समझ पाएँगे यह श्रीमान् पूर्व जन्म में बड़ा भारी तप करके आए हैं,

मैं इस दृष्टिकोण का विरोध करता हूँ। जैन सिद्धान्तों का जिसने अध्ययन किया होगा और मार्मिक मनन किया होगा, वह इस दृष्टिकोण का विरोध ही कर सकता है। जैन-शास्त्र के अनुसार तप, संवर और निर्जरा का हेतु है। अर्थात्

तपस्या करने से नवीन कर्मों का आना रुकता है और पहले के कर्मों की निर्जरा होती है। शास्त्र नहीं कहते कि तपस्या करने से ऐसी गहरी थकावट आजाती है कि जन्म-जन्मान्तर में भी वह दूर नहीं होती। पूर्व जन्म में की हुई तपस्या की थकान अगले जन्म में पैर दबवाने से मिटती है, यह कल्पना बाल-कल्पना के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? इस कल्पना में सचाई मान लेने पर तो यह भी मानना पड़ेगा कि जो जितना बड़ा तपस्वी है, उसे उतनी ही अधिक थकावट होगी और उसे दूर करने के लिए उतने ही ज्यादा जन्म लेकर पैर दबवाने पड़ेंगे और तब कहीं उसकी थकावट मिटेगी। इस प्रकार तपस्या निर्जरा का और मोक्ष का कारण न होकर संसार-परिभ्रमण का, जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने का कारण बन जाएगी। क्या आप इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं?

विचार करने पर मालूम होगा कि इस दृष्टि के पीछे साम्राज्य-वाद और पूंजीवाद की भावनाएँ काम कर रहीं हैं, जिनमें पूंजी को बड़ा महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि के पीछे दूसरे रूप में एक ललकार है कि अपने आप कोई काम नहीं करना और दूसरे से काम कराना और इसी में पुण्य समझना, भाग्यशाली की निशानी समझना।

किन्तु पुण्य और पाप की यह व्याख्याएँ नहीं हैं। अगर यह व्याख्याएँ सही हैं तो एक श्रीमान् रथ पर चल रहा है

और एक सन्त नंगे पैर पैदल चल रहा है, तो आप इनमें से किसे पुण्यात्मा और किसे पापी समझते हैं ?

कदाचित् आप कह दें कि सन्त जो धर्मक्रिया कर रहे हैं, उसका फल उन्हें भविष्य में मिलेगा। फिलहाल तो वे अपने पुराने कर्मों का फल भोग रहे हैं। अपने पापों का क्षय कर रहे हैं।

तो इसका अर्थ यह हुआ कि जितने भी पैदल चलने वाले संत हैं, सब के सब पाप कर्म के उदय से पैदल चल रहे हैं।

जरा ठहरिये, ऐसा मानकर भी आप अपना पल्ला नहीं छुड़ा सकते।

तीर्थंकर दीक्षा लेने से पहले सवारी का उपयोग करते हैं और दीक्षा लेने के पश्चात पैदल विहार करने लगते हैं। तो क्या आपके ख्याल से दीक्षा लेते ही उनका पुण्य क्षीण हो जाता है और पाप का उदय आ जाता है ?

कई तीर्थंकर, चक्रवर्ती की ऋद्धि त्याग कर दीक्षित होते हैं और जो चक्रवर्ती नहीं होते, वे भी महान् राजकुलों में उत्पन्न होकर राजकीय वैभव को ठुकरा कर दीक्षा लेते हैं। आगम बतलाता है कि पुण्य प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति है। फिर कैसे कल्पना की जाय कि तीर्थंकर पाप के उदय से पैदल विहार करते हैं ? और कैसे माना जाय कि जो पैदल न चल कर पालकी पर चढ़कर चलता है, वह पुण्यात्मा होता है ?

एक सचाई का परित्याग कर देने से पचासों मिथ्या कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं और सत्य सिद्धान्त की शृंखला भंग हो जाती है।

वास्तव में पैदल चलना या सवारी पर चलना और नंगे पैर चलना अथवा जूते पहन कर चलना, पाप और पुण्य का उदय नहीं है।

कार्य के साथ यदि पुण्य-पाप को जोड़ना चाहते हैं तो जो काम विचार और विवेक के साथ किया जा रहा है, उसे पुण्य के उदय में रखिये और जो विवेक शून्य होकर, किसी प्रकार का विचार न करके, अपने शरीर को निठल्ला बना कर सवारी पर चल रहा है और इस कारण जो यातना नहीं सँभाल सकता, उसे पाप में शामिल कीजिए।

आखिर विचार करना होगा, दृष्टि में परिवर्तन करना होगा और तभी यह प्रश्न हल होगा।

आपने भोजन किया और किसी ने उपवास किया, चौला किया, पंचौला किया या अठाई की और अपने शरीर को तपाया मालूम होता है, तकलीफ है, पर भावना का बल डाल दिया गया है। तो मैं पूछता हूँ कि जो तपस्या में भूखा रह रहा है सो क्या पाप के उदय से ? व्रत या साधना में भूखा रहना किस कर्म के उदय का फल है ? आप विचार में पड़ गए होंगे, किन्तु यहाँ कर्मों के उदय का फल नहीं है। यह तो कर्मों के क्षयोपशम का फल है।

श्रावक बने तो किस कर्म के उदय से ? कह देते हैं पुण्य कर्म के उदय से भगवान् की और संतों की वाणी सुनने को मिलती है, दर्शन मिलते है, श्रावकपना और साधुपना मिलता है सो किस कर्म से ? इसके लिए भी कह दिया जाता है कि पुण्य के उदय से साधु बनने की बात चलती है तो लोग कहते हैं—इतना पुण्योदय कहाँ है ? प्रबल पुण्य का उदय होगा तब कहीं साधुपना मिलेगा। परन्तु कभी आपने विचार किया है कि पुण्य कर्म की कौन सी प्रकृति है वह, जिसके उदय से साधुपना या श्रावकपना मिलता है ?

हर जगह कर्मों की फांसी क्यों गले में लगा रक्खी है ? सभी जगह पुण्य और पाप के उदय को ही क्यों सोचते हो ? जहाँ जीवन के बंधन तोड़ने का प्रश्न है या साधुत्व का प्रश्न है, दूसरे से काम लेने का प्रश्न है या अपने आप काम करने का प्रश्न है, वहाँ पुण्य-पाप के उदय की कोई बात नहीं है।

यह बहिनें भूखी और प्यासी रह कर तपस्या करती हैं तो इनके कौन-से कर्म का उदय आ गया ? और आपने यहाँ सामायिक करने के लिए कपड़े उतार दिये तो कौन-से कर्म का उदय आ गया ? यह कर्म का उदय नहीं है, बल्कि क्षयोपशम की बात है।

किसी भाई ने सवारी का त्याग कर दिया और पैदल चलने का नियम ले लिया तो वहां किसी पापकर्म का उदय सम भाजाएगा ? जब तक उसकी पुन्य प्रभृति का उदय था,

तब तक वह सवारी में बैठता था और जब पाप का उदय आ गया तो उसने सवारी का त्याग कर दिया ?

तथ्य यह है कि जब तक हम इस जीवन के सम्बन्ध में विचार नहीं करेंगे, तब तक यह साधनाएँ और जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हल नहीं हो पाएँगी।

एक साधु शास्त्रोक्त मार्ग पर चलता है और अपने उपकरण आप ही लेकर चलता है। दूसरा साधु गलत रास्ते पर चल कर, अपने उपकरणों की गठरी बना कर; किसी गृहस्थ को दे देता है। तो क्या अपने उपकरण स्वयं लेकर चलने वाले साधु के पाप का उदय है ? और जो स्वयं उठाकर नहीं चल रहा है और दूसरे गृहस्थ पर लाद कर चल रहा है, उसके पुण्य का उदय है ? इन सब बातों पर आपको गंभीरता से विचार करना है और विचारपूर्वक इन प्रश्नों को हल करना है।

बात यह है कि यहाँ पुण्य और पाप के उदय का प्रश्न नहीं है, यहाँ तो कार्यों को तोड़ने का मुख्य प्रश्न है। अज्ञानता से और विवेकहीनता से चलेंगे तो उसका कोई मूल्य नहीं है, किन्तु जो साधक विचार में है, विवेक में है, और सोच-विचार कर पैदल चलने की भावना रखता है और समझता है कि सवारी पर चलने से हिंसा होगी, अतएव स्वयं श्रम करूँ और दूसरों को क्यों कष्ट दूँ, कीड़ी वगैरह की हिंसा न हो जाय; और इस प्रकार सोच कर जो अपने संयम को

अधिक उच्च रूप में रखने का प्रयत्न करता है; उसमें पाप प्रभृति का उदय नहीं है।

किसी साधक ने सवारी का त्याग कर दिया, भोजन करने का त्याग कर दिया, अमुक अमुक विगय का त्याग कर दियातो यह सब क्या है? ध्यान से सोचेंगे तो मालूम होगा कि यह सब पापकर्म के उदय से नहीं हुआ, यह तो क्षयोपशम एवं संवर से हुआ है। जहाँ त्याग और तप करने की भावना है, दया की भावना है, दूसरों पर अपना बोझ न डाल कर स्वयं काम करने की भावना है, वहाँ क्षयोपशम अथ च संवर हो रहा है।

आप विवेक पूर्वक पैदल चल रहे हैं तो कर्मों का क्षयोपशम हो रहा है। आप निराहार रह रहे हैं और उसमें विवेक का पुट है तो आप कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं। प्रत्याख्यान क्या चीज है? वह संवर है, कर्मों को रोकने का मार्ग है। कर्मों का जो अविरल प्रवाह आत्मा की ओर बहता है, उसे रोक देने का तरीका है। यह संवर पाप के उदय से होता है अथवा पुण्य के उदय से होता है? संवर ने तो पाप और पुण्य दोनों से लड़ाई लड़ी है। तो पाप और पुण्य की भाषा में संवर और निर्जरा को सोचना अज्ञानता से सोचना है।

आप दान देते हैं सो किस कर्म के उदय से? आपके पास दस-बीस हजार हैं और उनमें से एक हजार दान दे दिया तो उतनी लक्ष्मी कम हो गई। वह पाप के उदय से या

पुण्य के उदय से कम हो गई ?

लक्ष्मी इकट्ठी करना पुण्य का उदय और कम करना पाप का उदय मान लिया तो दान देने से जो लक्ष्मी कम हो गई, उसे भी पाप का उदय ही मानना पड़ेगा ! हरिश्चन्द्र जैसे ने तो अपना सर्वस्व लुटा दिया था और एक कौड़ी भी अपने पास नहीं रक्खी थी । आपने अपने भाई की सहायता कर दी या किसी साधु को बहरा दिया अथवा दिल में दया उपजी और किसी गरीब को कुछ दे दिया, तो आपके पास का परिग्रह कम हो गया—लक्ष्मी कम हो गई । जितना दिया उतना कम हो गया । क्या आप इसे पाप के उदय का फल समझेंगे ?

जैसे लक्ष्मी का कम हो जाना एकान्त पाप नहीं है उसी प्रकार लक्ष्मी का आना भी एकान्त पुण्य की बात नहीं है । पाप के उदय से भी आती है और पुण्य के उदय से भी आती है ।

कल्पना कीजिए, एक आदमी कहीं जा रहा है । जाते-जाते उसे रास्ते में मोहरों की थैली मिल गई । अनायास ही मिल गई और उसने उठा ली । तो वह पाप के उदय से मिली या पुण्य के उदय से मिली ?

वह आदमी उस थैली को उठाकर घर ले गया और मोहरों का इस्तेमाल करना शुरू किया । और फिर जाँच हुई तो पकड़ा गया और जेलखाने गया । मानना होगा कि वह

थैली पाप के उदय से मिली और जेलखाने जाना और वहाँ कष्ट पाना उसी पाप के उदय का फल है।

एक डाकू डाका डालता है और लोगों की लक्ष्मी लूट लेता है। उसे जो सम्पत्ति मिलती है सो पाप के उदय से या पुण्य के उदय से ?

तात्पर्य यह है कि इस विषय में बहुत गलतफ़हमियाँ होती हैं। हमें निरपेक्ष भाव से, मध्यस्थ भाव से, शान्तिपूर्वक सोचना चाहिए। ठगाई और चोरी न करके, न्याययुक्त वृत्ति से जो लक्ष्मी आती है वही पुण्य के उदय से आती है और वह लक्ष्मी नीति और धर्म के कार्यों में व्यय होती है।

इतिहास बतलाता है कि दिन में एक व्यक्ति राजगद्दी पर बैठा और रात में कत्ल कर दिया गया। तो कत्ल कर दिया जाना पाप का उदय है और उसका कारण राजगद्दी मिलना है। अतएव उसे पाप के उदय से राजगद्दी मिली जो उसके कत्ल का निमित्त बनी।

एक बात और पूछनी है। किसी के लड़का होता है तो किस कर्म के उदय से ? और लड़की होती है तो किस कर्म के उदय से ? लड़का होता है तो लोग कहते हैं—पुण्य के उदय से हुआ और लड़की पैदा हो गई तो कहेंगे कि पाप का उदय हो गया ! प्रश्न गंभीर है और लोगों की धारणा है कि पुण्य के उदय से लड़का और पाप के उदय से लड़की होती है।

चाहे हजारों वर्षों से आप यही सोचते आये हों, किन्तु

मैं इस विचार को चुनौती देता हूँ कि आपका विचार करने का यह ढङ्ग बिलकुल ग़लत है। मिथिला के राजा कुम्भ के यहाँ मल्ली कुमारी का न्जम हुआ। वह पाप के उदय से हुआ या पुण्य के उदय से हुआ? और राजा उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म पाप के उदय से अथवा पुण्य के उदय से हुआ? श्रेणिक के यहाँ कोणिक ने जन्म लिया सो पाप के उदय से या पुण्य के उदय से? मतलब यह है कि एकान्त रूप में लड़का-लड़की के जन्म को पुण्य-पाप का फल नहीं माना जा सकता।

मैंने एक आदमी को देखा है। उसके यहाँ लड़का भी था और लड़की भी थी। लड़के ने सारी सम्पत्ति बर्बाद कर दी। वह बाप को भूखा मारने लगा और भूखा ही नहीं मारने लगा, डंडों से भी मारने लगा। उसे दो रोटियाँ भी दूभर हो गईं। आखिर उसने लड़की के यहाँ अपना जीवन व्यतीत किया और वहाँ उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। जब वह मुझसे एक बार मिला तो वह कहने लगा, बड़ा भारी पुण्य का उदय था कि मेरे यहाँ लड़की हुई। अब जीवन ढंग से गुजर रहा है। लड़की न होती तो ज़िंदगी बर्बाद हो जाती।

मैंने लड़के के विषय में पूछा तो उसने कहा, न जाने किस पाप कर्म के उदय से लड़का हो गया।

तो उसने ठीक-ठीक निर्णय कर लिया। आपके सामने ऐसी परिस्थिति नहीं आई है, अतएव आप एकान्त रूप में

निर्णय कर लेते हैं कि पुण्य से लड़का और पाप से लड़की होती है। लड़के का आना और जाना, यह तो संसार का प्रवाह वह रहा है। इसमें एकान्त रूप से पुण्य-पाप की भ्रान्ति मत कीजिए।

बताइए, गहना पहनना पुण्य है या गहना छोड़ना ? इसी तरह पर्दा छोड़ना पुण्य है या पर्दा रखना पुण्य है ? रोटी के लिए स्वयं परिश्रम करना पुण्य है या दूसरे से परिश्रम कराना ? इत्यादि बातें जब तक हमारे मस्तिष्क में नहीं सुलझेंगी, तब तक धर्म-कर्म की ऊँची फिलासफी को कैसे समझेंगे ? आप हर काम में पुण्य-पाप को ढूंढ़ना चाहते हैं, पर पुन्य की और क्षयोपशम की परिभाषाएं नहीं समझते हैं। इसी कारण गलतफहमियाँ हो जाती हैं।

विचार करेंगे तो मालूम होगा कि जैनधर्म और जैनदर्शन संसार के सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। वह कहना चाहता है कि तुम वासनाओं के लिए भटक रहे हो और संसार के सुख-दुख पाने के लिए भटक रहे हो तो उसका क्षेत्र पुन्य-पाप का है। किन्तु जहाँ जीवन की साधनाओं का प्रश्न है, कोई साधक अपने जीवन को बनाना चाहता है तो वह क्षयोपशम तथा संवरभाव की बात है। जो नवकारसी, उपवास, वेला, तेला आदि कर रहा है, वह क्षयोपशम से कर रहा है। कर्मों के उदय से नहीं, वरन् कर्मों के बन्धन टूटते हैं, यह सब हो रहा है। उनके टूटे बिना न

कोई साधु बन सकता है, न श्रावक बन सकता है। इस प्रकार त्याग की भूमिकाएँ न पुन्योदय से होती हैं और न पापोदय से ही होती हैं, किन्तु क्षयोपशम एवं संवर भाव से ही होती है।

कोई सोचता है—वृथा क्यों घोड़े पर चढ़ूँ? घोड़े को तकलीफ होगी और जीवों की यतना भी नहीं होगी। इस प्रकार की विवेकवृत्ति से प्रेरित होकर वह पैदल चल रहा है और अपने शरीर का श्रम जोड़ रहा है, तो समझना होगा कि उसे कर्मों को तोड़ने के रूप में त्याग और वैराग्य का मार्ग मिला है।

हाँ, तो आनन्द पैदल चल रहा है। हो सकता है कि पैदल चलने का कारण उसका भक्तिभाव हो, फिर भी वह प्रभु के ध्यान में चल रहा है और उसने शरीर के श्रम को महत्त्व दिया है।

हाथी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति अगर सोचता है कि हाथी के पैर के नीचे दबकर जो कीड़ियाँ मर रही हैं, वे हाथी से मर रही हैं, मुझसे नहीं मर रही हैं, अतएव वह पाप हाथी को लगेगा, मुझे नहीं लगेगा, इसी प्रकार पालकी पर सवार हो कर चलने वाला यदि सोचता है कि पालकी उठाने वालों को कीड़ी मारने का पाप लगेगा, मुझे नहीं लगेगा, और यदि मैं पैदल चला और कोई जीव-जन्तु मर गया तो उसका पाप

मुझे लगेगा, अतएव पैदल न चल कर सवारी पर चलना ही धर्म के अनुकूल है। यह दृष्टि गलत है।

इसके विपरीत दूसरा आदमी पैदल चल रहा है और नीची दृष्टि करके विवेकपूर्वक चल रहा है तो वह कर्मों को तोड़ता है।

वास्तव में अपने पुरुषार्थ को महत्त्व देना चाहिए। आज यह स्थिति हो गई है कि भारत के गाँवों में, जहाँ बस-सर्विस चालू हो गई हैं, किसानों को दो-तीन कोस जाना होगा तो दो-चार घंटे बस के आने की प्रतीक्षा करेंगे और फिर जगह न मिली तो भेड़ों की तरह ठसाठस भरेंगे और मुसीबत झेलना कबूल करेंगे; परन्तु दो-तीन कोस तक पैदल नहीं जाएँगे। भारत की जनता इतनी पंगु बन गई है कि पैदल चलना उसे बड़ा भारी भार मालूम हो रहा है। इस पंगुता ने भारतीय जीवन को पतित कर दिया है।

एक आदमी को देवता मिला। उसने आदमी से कहा-तुम मुझे पैर दे दो तो मैं तुम्हें हाथी दे दूँ। हाथी ले लो, मजे की सवारी हो जायगी।

जिसके पास जरा भी विवेक-बुद्धि है, वह पैर देकर हाथी नहीं लेगा। मगर भाई, पुन्य के उदय से हाथी मिल रहा है।

पैरों का भी मूल्य है। आखिरकार घर की जिंदगी तो पैरों से ही चलेगी। घर में हाथी पर सवार होकर तो कोई

नहीं निभ सकता! हाथी तो तभी काम आ सकता है जब कहीं दूर बाहर जाना हो। तो पैरों के बदले हाथी का कोई मूल्य नहीं है। किसी को जिंदगी भर मोटर या हाथी न मिले तो भी उसका काम बखूबी चल सकता है, और लाखों-करोड़ों का चलता ही है; किन्तु पैर गँवा कर हाथी पा लेने वाले की ज़िंदगी कितनी दुखमय हो जायगी?

इन सब बातों पर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि जैन धर्म अनेकान्तवादी है और उसकी परिभाषाएँ बड़ी विचार-पूर्ण हैं। उसकी पाप और पुन्य की व्याख्याएँ बड़े महत्त्व की हैं। हमें स्वयं अपने हाथों से काम करना चाहिए या दूसरों से कराना चाहिए, यह भी बड़ा विचारणीय प्रश्न है।

बहुत से लोगों को पैदल चलने में लज्जा आती है; किन्तु जहाँ उन्हें लज्जा आनी चाहिए, वहाँ तो आती नहीं, और जहाँ नहीं आनी चाहिए, वहाँ आती है।

लज्जा आनी चाहिए हिंसा, झूँठ, चोरी, दुराचार आदि पाप-कर्मों को करते समय, सो न करके सत्कर्म में लोग लज्जा करते हैं।

आनन्द गाथापति के पास विशाल वैभव है। धन-सम्पत्ति की उसे कमी नहीं है। भरा-पुरा घर है। लेकिन उसके मन में इस बात की लज्जा नहीं है कि मैं भगवान् के दर्शन के लिए जाते समय पैदल क्यों चल रहा हूँ? आज के धनवानों की दशा उलटी हो रही है। ये शुभ काम के लिए पैदल जाने

में लजाते हैं। पर आनन्द को देखो। वह किसी गली-कूचे से चुपके-चुपके नहीं जा रहा है। स्वयं शास्त्रकार कहते हैं कि वह धड़ल्ले के साथ नगर के बीच होकर जा रहा है। और अकेला नहीं, समूह के साथ जा रहा है। उसे पैदल चलने में लज्जा आई होती तो क्या इस रूप में वह निकलता ?

अगर आपको अपना कल्याण करना है तो साधक की भाँति जीवन व्यतीत करो। शुभ काम में लज्जा का अनुभव मत करो। अशुभ भावों को त्याग कर, भोग विलास की वृत्तिसे अपने आप को अलग करके शुभ भावों को अपनाओ, इसी में मानव जीवन की महत्ता है।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२२-८-५०

—

समवसरण में प्रवेश

यह श्रीउपासकदशाँग सूत्र हैं और आनन्द का वर्णन आपके सामने चल रहा है। आनन्द उत्कट भक्ति के वशीभूत हुआ प्रभु-दर्शन की बलवती इच्छा को अपने मन में बसाये भगवान महावीर के पास जा रहा है। वह अपार धन-राशि का स्वामी है; मगर उसे इस बात की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है कि इतने बड़े सेठ को पैदल जाते देख लोग क्या कहेंगे और वह पैदल ही भगवान के स्थान की ओर चला जा रहा है। वह सोचता है, शुभ कार्य में लज्जा कैसी! लज्जा तो पाप-कर्म करते समय होनी चाहिए, वह भगवान् की वंदना करने के लिये पैदल ही चला जा रहा है। अपने

लिये वह तो इसे गौरव की बात समझ रहा है—क्योंकि वह जानता है, सन्तों के पास इसी प्रकार जाना चाहिये। इसी-लिये उसे इस बात की परवाह नहीं है कि कोई भी इस गौरव योग्य बात के लिये उसकी निन्दा करेगा। वह सोचता है, कोई निन्दा करेगा—तो, करने दो—इसमें उसका बिगड़ता भी क्या है। वह कोइ बुरा काम थोड़े ही कर रहा है—और इतना सोच लेना ही उसके सन्तोष के लिये पर्याप्त हैं। और वह भक्ति-विभोर हुआ पैदल ही प्रभु की ओर चला जा रहा है।

अजी, कोई क्या कहेगा ? इस प्रकार की भावना का भूत बहुतों के सिर पर सवार रहता है। और इस भूत की यह विशेषता है कि वह मनुष्य को अधिकांश में भले काम करने से रोकता है, बुरे काम करने से नहीं ! और यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है। तुम दूसरों की आँखों से देखकर क्यों चलना चाहते हो ? दूसरों के दिमाग से सोचकर क्यों निश्चय करना चाहते हो ? ऐसा करते हो तो तुम्हारी आँखें और तुम्हारा दिमाग किस काम का है ? तुमने किसी भी शुभ कार्य को करने का अगर विचार कर लिया हैं और तुम्हारे निर्मल अन्तःकरण ने उसे शुभ मान लिया है, तो दूसरों का ख्याल क्यों करते हो ? क्यों सोचते हो कि यह क्या कहेंगे और वह क्या कहेंगे ? अगर तुम्हें अपने दिल और दिमाग पर भरोसा है तो तुम वही काम करो, जिसे करने

के लिये तुम्हारा मस्तिष्क तुमसे कहता है और हृदय करने के लिये प्रेरित करता है।

दुनिया तो दुरंगी है। दुनिया की दृष्टि से चलोगे तो कहीं के भी नहीं रहोगे। अतएव अपने कार्य का मूल्य आप ही निर्धारित करो और कम से कम धर्म-कृत्य के विषय में तो लज्जा और निन्दा की चिन्ता ही न करो।

आनन्द ने दुनिया का ख़याल नहीं किया। उसके भक्ति-भाव ने उससे कहा—पैदल चलो। और वह पैदल चल पड़ा। कुछ लोगों ने टीकाटिप्पणी की होगी तो की होगी। सुधर्मा स्वामी ने तो उसके पैदल चलने को इतना महत्त्व दिया कि शास्त्र में उसका उल्लेख भी कर दिया!

आनन्द किसी के कहने-सुनने पर ध्यान न देता हुआ, नगर के बीच में होकर निःसंकोच भाव से प्रभु के दर्शन को जा रहा है। और वह नगर में होता हुआ दूतीपलाश नामक उपवन में, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, पहुँचा।

यहाँ मूल सूत्र में इसी आशय का पाठ है; किन्तु दूसरे अधिकाँश सूत्रों में इस बात का वर्णन मिलता है कि जब कोई गृहस्थ-भक्त प्रभु-दर्शन के लिए जाता था तो किस रूप में जाता था? क्या-क्या तैयारियाँ करके जाता था? इस बात का हमारे यहाँ बड़ा सुन्दर वर्णन आया है। सुनने वालों ने सुना होगा कि साधक पाँच अभिगम करके समवसरण में जाया करता था।

अभिगम का अर्थ मर्यादा है। जो व्यक्ति जहाँ कहीं भी जाता है, उसे वहाँ की मर्यादा का पालन करना पड़ता है। बिरादरी में जाता है तो वहाँ की मर्यादा को ध्यान में रखता है। राजदरबार में जाते समय वहाँ की मर्यादा का पालन करना पड़ता है और दूसरे देश में जाने पर वहाँ की मर्यादा के अनुसार चलना आवश्यक हो जाता है। ठीक इसी प्रकार साधु-समागम करते समय भी कुछ मर्यादाओं का पालन करना परम आवश्यक है।

जो इस प्रकार मर्यादाओं का ध्यान रखते हैं, उन्हीं को शिष्ट और सभ्य समझना चाहिए और उन्हीं को मनुष्य समझना चाहिए। मर्यादा का ध्यान न रखने वाले मनुष्य और पशु में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। पशु कहीं भी पेशाब कर देता है, कहीं पर गोबर कर देता है, कहीं भी खड़ा हो जाता है और कहीं भी चल पड़ता है। पशु में इतनी समझ नहीं कि वह क्या कर रहा है और कहाँ कर रहा है! वह मर्यादा के अनुकूल है या नहीं?

मनुष्य मर्यादा का ज्ञाता होता है। मनुष्य और पशु को अलग-अलग करने वाली लकीर है—मर्यादा। जहाँ वह है वहाँ मनुष्यता है। वहीं इन्सान की इन्सानियत है और जहाँ मर्यादा नहीं, वहाँ कुछ भी नहीं।

आपके नगर की भी मर्यादा है। साधु-समाज में भी मर्यादाएँ हैं। जीवन के चारों तरफ़ मर्यादाओं की दीवार

खड़ी है। यदि हम मर्यादाओं का यथोचित पालन करते हुए चलेंगे तो धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाएँगे। कहीं भी अजनबी नहीं मालूम होंगे। जो जहाँ जाकर वहाँ की मर्यादाओं का पालन करता है, वह अजनबी मालूम नहीं होता और शीघ्र ही वहाँ अपने साथी बना लेता है। पहली ही मुस्कराहट में वह दूसरों को अपना बना लेगा। और जिसे मर्यादा का भाव नहीं है, वह जिस कुल में पैदा हुआ, उस कुल में भी वह फ़िट (Fit) नहीं हो सकता, उसके अनुरूप नहीं हो सकता।

पिता और पुत्र का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर है। इतना मधुर कि इससे बढ़ कर माधुर्य संसार के किसी अन्य सम्बन्ध में नहीं है। इसी तरह पिता-पुत्री, भाई-भाई, भाई-बहिन का सम्बन्ध भी मधुर है। फिर भी कोई व्यक्ति संयोगवश पिता बन गया; किन्तु पिता की मर्यादाओं को वह नहीं जानता तो वह क्या ख़ाक पिता बना। किन्तु जो पिता, अपने पुत्र के साथ मर्यादा में चलता है, वह पिता हज़ारों वर्ष तक दुनिया को रोशनी देता है। और वह पुत्र, जो अपने अन्दर पुत्रत्व का भाव रखता है, यह जानता है कि पिता के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, वह आदर्श पुत्र गिना जाता है। पिता और पुत्र दोनों अपनी-अपनी मर्यादाओं का ध्यान रख कर चलेंगे तो उनका जीवन अच्छी तरह चलेगा।

रामायण आपके सामने है। राम को आप जीवन की

सर्वोत्तम ऊँचाई पर चढ़ा हुआ देखते हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने अपने पुत्रत्व का अच्छी तरह पालन किया है। जब देखा कि पिता संकट में हैं, वचन-पूर्ति का प्रश्न आगया है और माता कैकयी ने वचन माँग लिया है, तो उन्होंने पिता की मर्यादा की रक्षा की और पिता की मर्यादा की रक्षा क्या की, अपने पुत्रत्व की मर्यादा की रक्षा की। दशरथ ने एक ओर तो पत्नी को वचन दे दिया और दूसरी तरफ़ पुत्र-प्रेम के कारण राम से वन जाने को भी नहीं कह सकते हैं। किन्तु राम ने पिता के मुख पर उभरी हुई भावनाओं को पढ़ लिया और समझ लिया कि पिता किस दुविधा में पड़े हैं।

जहाँ आँख काम करने को तैयार हो, वहाँ कान का उपयोग क्यों किया जाय ? कान का दर्जा दूसरा है और आँख का दर्जा पहला है। तो जब आँखों ने सबकुछ देख लिया और मन ने उसे समझ लिया—तो, फिर सुनने की आवश्यकता क्यों ?

राम को यह आज्ञा नहीं मिली कि तुम वनवास के लिए चले जाओ। और यह आज्ञा भी नहीं मिली कि यहाँ रहना ठीक नहीं है; किन्तु राम ने पुत्रत्व की मर्यादा को समझ लिया। वे समझ गये कि पिता किस स्थिति में हैं और किस संकट में पड़ गए हैं। वह सोचते हैं—मैं अपनी मर्यादा का पालन नहीं करूँगा तो पिता का ऋण कैसे अदा कर सकूँगा ? वास्तव में वही पुत्र ऋण अदा कर सकता है जो अपने पुत्र बनने की मर्यादाओं का पालन करता है। तो अपनी

मर्यादाओं का पालन करने के कारण राम हमारी आँखों के सामने चमक गए। उन्हें हुए बहुत लम्बा समय हो चुका है; किन्तु आज भी वे जनता के हृदय में बसे हुए हैं। आज भी रामायण महलों से लेकर झौंपड़ियों तक गाई जा रही है।

दूसरी तरफ सीता को देखिए। उसने भी पत्नी होने की मर्यादा का भलीभाँति पालन किया। सीता के विषय में कहा जाता है:—

छायेवानुगामिनी

कोई अपनी छाया से पूछे—तुझे किधर जाना है? तो छाया क्या उत्तर देगी? यही कि—जिधर तुझे जाना है, उधर ही मुझे जाना है। आप हज़ार कोशिश कीजिए कि मैं जाऊँ; किन्तु छाया न जाय, पर ऐसा नहीं हो सकता। भारतवर्ष की पत्नियोंने, सन्नारियों ने, एक ही आदर्श, सर्वदा अपने सामने रक्खा है कि वे अपने पति के पीछे छाया की भाँति चलती हैं।

तो सीता ने पत्नी की मर्यादा का पालन किया। उसने ऊँचे-ऊँचे महलों को छोड़ा। फूलों की शय्या को छोड़ा और धूप और गर्मी सहन की। रामायण में सीता के लिए कहा गया है—

असूर्यंपश्या राजदारा

अर्थात् सीता इतनी सुकुमारी और कोमलांगी थी कि सूर्य को देख भी नहीं सकती थी।

सुकुमारता की हद है। मगर वही सीता, नंगे पैरों, ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर राम के पीछे-पीछे चल दी। राम ने उसे वन-जीवन की सभी कठिनाइयाँ बतलाईं, मगर उन कठिनाइयों से डरकर सीता अपनी मर्यादाओं को न त्याग सकी। और वह छाया-वत् अपने पति राम के पीछे-पीछे चली। उसने वन की सभी आपदाओं को सहा; मगर नारी की मर्यादाओं से मुख नहीं मोड़ा।

लक्ष्मण को भी देख लीजिए। उन्होंने कितनी हिम्मत के साथ अपने भ्रातृत्व की मर्यादा का पालन किया। वे संसार को बता गये कि भाई की मर्यादा क्या होती है। भाई जब तक महलों में रहे तब तक महलों में साथ रहे, खान-पान और मान-सन्मान में समान भागीदार रहे, किन्तु जब राम के वन-गमन का प्रश्न आया, तब लक्ष्मण पीछे रह जाते तो उन्हें रामायण में कहाँ जगह मिलती? किन्तु नहीं, लक्ष्मण ने सराहनीय रूप में भाई की मर्यादा का पालन किया। उन्होंने सोचा-जहाँ राम हैं, वहीं मेरे लिये अयोध्या है।

जब रावण, सीता को हरण करके ले गया तब राम नें भी अपने पतित्व की मर्यादा का यथोचित रूप में पालन किया। अपने स्थान पर सीता को न पाकर राम पागल हो-गए। हरेक वृक्ष से और फल-फूल से पूछते फिरे कि सीता

को देखा है, तुमने ? इतने बड़े राम, सूरज, चाँद और पक्षियों से भी सीता का पता पूछते हैं। जगल में चौकड़ी भरने वाले हिरनों से भी वही पूछते हैं। आखिर उन्हें क्या हो गया? क्यों इतने व्याकुल हे ? मैं कहता हूँ—राम के इसी पागलपन ने तो राम को इतना ऊँचा बना दिया है।

सीता का नारी के रूप में राम के मन में कोई महत्व नहीं है। नारी भोग—विलास की सामग्री है; इसलिये उनका पागलपन नहीं है। वे पति के नाते सीता का उत्तरदायित्व लेकर वन में आये हैं। उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि हमारे ऊपर संकट पड़ेगा तो पहले मैं सहन करूँगा, पीछे सीता ! और सुख पहले सीता का है, पीछे मेरा !

पति और पत्नी का सम्बन्ध किस रूप में है ? सुख और भोगविलास की सामग्री पहले तुम्हारी और फिर हमारी है; और दुःख तथा संकट पहले मेरा है और फिर तुम्हारा है। भारतवर्ष ने पति और पत्नी के सम्बन्ध में इतनी बड़ी भावनाएँ जोड़ी हैं।

तो राम यह सोचकर पागल नहीं बने कि सीता उनके भोग की सामग्री है, उनके पागल होने का कारण यह था कि वह अपनी पत्नी की रक्षा नहीं कर सके। वह सोचते हैं—पत्नी कितना कष्ट पा रही होगी। न जाने किस विषम स्थिति में पड़ी होगी। यही पतित्व की मर्यादा थी, जिसने राम को पागल बना दिया था। राम के दुख ने राम को पागल नहीं

बनाया, सीता के दुख ने राम को पागल बनाया। और राम का यह पागलपन भी पतित्व की मर्यादा के अन्तर्गत् होने के कारण अभिनन्दनीय बन गया।

राम, सीता के लिए चल पड़े। नहीं देखा, कि समुद्र को पार करना है। नहीं सोचा कि सीता को लौटाने जाता हूँ तो स्वयं लौटूँगा या नहीं। वह पत्नी की रक्षा के लिए रावण जैसे महाबली योद्धा से भी जूझ पड़े।

इस रूप में हम देखते हैं कि पत्नी के प्रति पति की जो मर्यादा है, उसका राम ने भलीभाँति पालन किया।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का जीवन मर्यादाओं में जकड़ा है। ग्रहस्थ को गार्हस्थिक मर्यादाओं का पालन करना है और साधु को भी साधुत्व की मर्यादाओं की रक्षा करनी है। जो अपनी मर्यादाओं का पालन करता है, वही सच्चा गृहस्थ है और वही सच्चा साधु है। जिस देश में मर्यादा-शील गृहस्थ और साधु निवास करते हैं, वह देश धन्य है।

हाँ, तो हम विचार कर रहे थे कि भगवान् के समवसरण में जाते समय भी मर्यादा का पालन किया जाता है। समवसरण में जाने की पाँच मर्यादाएँ हैं—(१) सचित्त वस्तुओं को त्याग कर जाना (२) शस्त्र तथा राज-चिन्ह आदि का त्याग करना (३) उत्तरासन करना अर्थात् गले में पड़े दुपट्टे को मुँह पर लगाना (४) जहाँ से भगवान् दृष्टिगोचर हों

वहीं से वाहन का त्यागकर हाथ जोड़ लेना और (५) मन को एकाग्र कर लेना।

इन पांच अभिगमों या मर्यादाओं में पहली मर्यादा सचित्त वस्तु का त्याग है। फूलों की माला आदि सचित्त वस्तुएँ लेकर समवसरण में जाना मर्यादा के विरुद्ध है। इसी प्रकार कोई राजा-महाराजा आदि हो तो वह छत्र-चमर या तलवार आदि वैभव-सूचक अचित्त द्रव्यों को लेकर भी समवसरण में न जाय। अभिप्राय यह है कि राजा को राजा के रूप में नहीं, किन्तु भक्त के रूप में समवसरण में जाना चाहिए। प्रभु के दरबार में राजचिन्ह नहीं धारण किये जाते, क्योंकि वे अहंकार के सूचक हैं। और जहाँ अहंकार है वहाँ प्रभु की पूजा नहीं हो सकती। इस प्रकार वैभव या अहंकार के चिन्ह अचित्त द्रव्यों को छोड़कर ही समवसरण में प्रवेश किया जाता है और सभी सचित्त द्रव्यों का तो त्याग करना ही पड़ता है। कारण, वहाँ अहिंसा का सबसे बड़ा देवता विराजमान होता है, जिसके अणु-अणु में मनुष्य से लेकर छोटे से छोटे एकेन्द्रिय प्राणियों के प्रति भी अनन्त-अनन्त करुणा का सागर उमड़ता रहता है। उनकी दृष्टि तो यह है कि सचित्त पुष्प को भी तकलीफ़ नहीं पहुँचनी चाहिए। उसे भी कष्ट नहीं होना चाहिए। जहाँ ऐसी परिपूर्ण दया का झरना बह रहा हो वहाँ फूलों की माला लेकर पहुँचना मर्यादा का पालन नहीं कहा जा सकता।

तो प्रभु के दरबार में पहुँचने के लिये प्रभु बनना तो संभव नहीं है, फिर भी प्रभु की भावनाओं का ख्याल तो रखना ही चाहिए। प्रभु की भक्ति करने चले तो प्रभु की भावनाओं का कुछ अंश तो अपने जीवन में उतारना ही चाहिए। जो व्यक्ति भगवद्-भावना में लीन नहीं होता, अलौकिक भक्ति की तरंग में नहीं बहता, वह भगवान् के दर्शन का पूरा रस नहीं पा सकता। सन्त आनन्दघन ने कहा है—

जिन स्वरूप कई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।

जिनेश्वर देव की भावनाओं में लीन होकर जिनेश्वर देव की सेवा करोगे तो वह सेवा जिनेश्वर देव की हो सकती है। जिनवर की भावना न रक्खी और भक्ति का प्रदर्शन किया तो वह भक्ति कैसी?

तो आनन्द या दूसरे कोई भी भक्त प्रभु के समवसरण में जाते तो सचित्त फूल माला आदि अलग रख दिया करते थे। मगर पीछे से लोगों ने इस महत्त्वपूर्ण बात को ध्यान में न रखते हुए केवल भक्ति की बात को ही सोचना शुरू किया तो वे भक्ति के पीछे विवेक को भूल गए। विवेक को भूल जाने के कारण ही जो चीजें भगवान् या गुरु के दरबार में नहीं पहुँचनी चाहिएँ वे पहुँचने लगी हैं। इससे बड़ी ग़लत चीज़ और क्या हो सकती है?

आप किसी से मिलने जाएँ और ऐसी चीज़ लेकर जाएँ, जिसे वह पाप समझ कर त्याग चुका हो और स्वयं ही न

त्याग चुका हो, किन्तु दूसरों को भी त्यागने की प्रेरणा देता हो, तो क्या आपका यह कार्य उचित समझा जाएगा ? जिस चीज़ को वह त्याग चुका है और दूसरों को त्यागने का उपदेश देते हैं, वही चीज़ आप उसको भेंट करने जाएँ और उसी के द्वारा अपना भक्तिभाव प्रकट करें, तो यह भक्तिभाव प्रकट करना है या उसका उपहास करना है ?

गांधीजी खादी के सब से बड़े हिमायती थे। उनके जीवन में खादी ताने-बाने की तरह समाई हुई थी। ऐसी स्थिति में कोई मनुष्य दो-तीन सौ रुपये का विदेशी दुशाला लेकर उसे भेंट देने के लिए ले जाय और उनसे मुलाक़ात करना चाहे तो क्या वह मुलाकात करने का सौभाग्य पा सकता है ? उसने मुलाकात कर भी ली तो उसका क्या फल होगा ? उससे गांधीजी को प्रसन्नता होगी ? नहीं ! गांधीजी से उसका मिलना व्यर्थ ही है।

असल में व्यक्ति का महत्त्व उसके आदर्शों, सिद्धान्तों और उनके अनुरूप किये जाने वाले उसके व्यवहार के कारण ही है। हाड़-मांस का शरीर तो मनुष्य-मात्र का एक-सा होता है। उसके कारण कोई पूज्य या महान् नहीं बनता। तो जब हम किसी व्यक्ति की पूजा करते हैं तो वास्तव में उसके आदर्श की पूजा करते हैं। किसी के जीवन-आदर्शों की अवहेलना करके उसकी पूजा करने का कुछ अर्थ नहीं है। वह पूजा नहीं, अवहेलना है।

गांधी जी विदेशी वस्तुओं के व्यवहार के विरोधी हैं, यह जानते हुए भी विदेशी सूत की माला उनके गले में डालने वाला व्यक्ति क्या वास्तव में उनकी इज्जत करता है ? उनकी इज्जत तो हाथ से काते हुए देशी सूत की माला पहनाने में ही है।

यदि हम किसी के प्रति भक्ति-प्रकट करना चाहते हैं तो उसकी भावनाओं का आदर भी करना होगा और उन भावनाओं को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न भी करना होगा।

जिसने मदिरा-पान को गर्हित समझ कर त्याग दिया है, उसे कोई मदिरा की बोतल ले जाकर भेंट करता है, तो मैं समझता हूँ कि इससे बढ़कर गलती दूसरी नहीं हो सकती।

भक्ति में भी विवेक रखना चाहिए। भक्ति का बड़ा महत्त्व है और इतना बड़ा कि भक्ति है तो सब-कुछ है और भक्ति नहीं है तो कुछ भी नहीं है। भक्ति अङ्क के स्थान पर है। अङ्क है तो बिन्दुओं का भी महत्त्व है और अङ्क नहीं तो बिन्दुओं का कोई महत्त्व नहीं। मगर भक्ति विवेकशून्य नहीं होनी चाहिए। भक्ति के मार्ग में से जहाँ विवेक को हटा दिया गया, वहाँ भक्ति बड़ी विद्रूप हो गई। विवेक के अभाव में, अन्धभक्ति ने लोगों को कहाँ से कहाँ भटका दिया है।

एक मुसलमान भक्ति के नाते, अपने खुदा के नाम पर गाय या बकरे की कुर्बानी कर देता है। आप ऐसा करते देख कर घबरा उठते हैं और उससे कहते हैं—कुर्बानी क्यों

करते हो ? वह कहता है—खुदा की इबादत करता हूँ।

क्या आप उसकी बात मानने को तैयार हो जाएँगे ? कभी नहीं। आप कहेंगे—यह खुदा की पूजा नहीं है। किसी का खून बहा कर खुदा की इबादत नहीं हो सकती, भक्ति नहीं हो सकती। गाय का रक्त बहा कर तुम जो भक्ति कर रहे हो, वह सच्ची भक्ति नहीं है। भक्ति करना है, कुर्बानी करना है, तो अपनी वासनाओं की कुर्बानी करो। भैंसे, गाय या बकरे की कुर्बानी करने से क्या होगा।

जब यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी तो भगवान् महावीर ने क्या कहा था ? उन्होंने यही तो कहा था कि सच्ची भक्ति का मार्ग यह नहीं है। दूसरे की हिंसा करके खून बहा कर भक्ति नहीं हो सकती। और यदि ऐसा किया जाएगा तो उससे उत्थान नहीं होगा। यह तो डूबने का मार्ग है, तिरने का मार्ग नहीं है। कोई भी भगवान् ऐसे भक्त का आदर नहीं करेगा।

किसी का पिता घूम कर आया। वह पसीने से तर है और गर्मी से घबराया हुआ है। इतने में उसका पुत्र वहाँ आया। उसने पिता की हवा करने के लिए इधर-उधर पंखा देखा। जब पास में कुछ दिखाई न दिया तो पिता की भक्ति में बहने वाले पुत्र ने अपना जूता उठाया और उसी से हवा करने लगा।

'अरे, यह क्या कर रहा है ?

'पिता की सेवा कर रहा हूँ, साहब, भक्ति कर रहा हूँ।'

आप इस पितृ-भक्त पुत्र के विषय में क्या कहते हैं ? और उसका पिता क्या कहेगा ? क्या इस भक्ति में रस है ? क्या पिता के मन में पुत्र की इस भक्ति से आनन्द की लहर उठेगी ?

भक्ति की जाय, पर भक्ति के साधनों में विवेक तो होना चाहिए ! पंखा किया जाता तो भक्ति समझ में आती, परन्तु जो चार कदम चल कर पंखा नहीं ला सका और पास में पड़े जूते से हवा करने लगा, उस पुत्र की भक्ति सच्ची भक्ति नहीं समझी जा सकती।

तुम्हें भगवत-पूजा का मार्ग अपनाना है तो बाहर के फूलों को रहने दो। जो फूल अभी अभी अपनी कलियों में खिले हैं और सूर्य की पहली किरण में ही सो कर उठे हैं, उनकी गर्दन मत तोड़ो। उनको छुओ मत। उनमें प्राण हैं, जीवन है। वे संसार को सौरभ देने के लिए आये हैं; अतः जहाँ हैं वहीं रहने दो। तुम्हें पूजा के लिए फूल चाहिएँ तो वे और हैं। उन्हें अपने मन के बाग में ही कहीं खोजो और मन के मन्दिर में जो भगवान् विराजमान हैं, उन पर चढ़ा दो। उन्हें किस रूप में चढ़ाना है :—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यं समसङ्गता।
> गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते। —हरिभद्रीय अष्टक

यह हरिभद्र सूरि के वचन हैं। उनकी वाणी जीवन देने

वाली है। वे इसी राजस्थानवर्ती पर्वतीय प्रान्त वीरभूमि मेवाड़ के थे। उन्होंने कहा है—प्रभु के दर्शन करने के लिए फूल तो चाहिए, किन्तु वे फूल कैसे हों? वे फूल अहिंसा के होने चाहिए, सत्य के, अस्तेय के, ब्रह्मचर्य के और अनासक्ति के पुष्प होने चाहिए। भक्ति की लहर पैदा होनी चाहिए, कितने ही संकट पड़ें तो उन्हे सहन करने की क्षमता होनी चाहिए, ज्ञान का और प्रेम का दीपक जलना चाहिए। यही प्रभु की पूजा के लिए श्रेष्ठ फूल हैं। ये वे फूल हैं जो अनन्त काल से जीवन में महक ढाल रहे हैं। जो तोड़े और मुरझा गए। यह अहिंसा सत्य, दया, ज्ञान और विवेक-विचार के भाव-पुष्प हैं। मैं प्रभु के चरणों में इस प्रकार के पुष्पों की भेंट चढ़ाता हूँ!

इस प्रकार प्रभु के चरणों में पहुँचोगे तो तुम्हे सच्चे भक्त होने का आनन्द मिलेगा और महक मिलेगी, जिससे तुम ही नहीं आनंदित होओगे, दूसरों को भी आनन्द होगा।

तुम हाथों में क्या लेकर आए हो? मेवा, मिष्टान्न या पुष्प? भगवान् यह नहीं देखते। वे तो तुम्हारे मन को देखते हैं। यह सब क्यों बटोर कर लाए हो? मन में अहिंसा और दया की भावना है, अनासक्ति की भावना है, तो यही सब से बड़ी भेंट है। यही भेंट चढ़ाकर आप अपने जीवन को सुन्दर और सफल बना सकते हैं। हिंसा करना मुक्ति का मार्ग नहीं है। भगवद्भक्ति का मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार जब किसी सन्त पुरुष की उपासना के लिए जाओ तो जो जैसे हों, उनकी जो भी मर्यादाएँ हों, उनका उसी रूप में पालन करना चाहिए।

महाभारत मैंने पढ़ा है। जब भीष्म युद्ध में लड़ते-लड़ते घायल हो जाते हैं तो बाणों की शय्या पर लेट जाते हैं; पलंग पर नहीं, मखमल या रुई के गद्दे पर नहीं। जिस ओर झुकते हैं, उसी ओर से बाण चुभते हैं। रक्त की बूंदें बह रही हैं। चारों ओर से कौरव और पाण्डव उन्हें घेर कर खड़े हैं। दुर्योधन, कर्ण और शकुनि आदि-आदि महारथी खड़े हैं। वज्र के बने उस बुड्ढे ने कभी हार नहीं खाई। वह शरीर से निरन्तर जूझता रहा है और इसी कारण उसका नाम 'भीष्म' हो गया है। उसने भरी जवानी में ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर अपने पिता के लिए ज़बर्दस्त बलिदान दिया। उसी भीष्म का ज़बर्दस्त चमकने वाला सूर्य आज निस्तेज हो रहा है। आज उनके जीवन का दीपक बुझ रहा है।

भीष्म ने सोचा—ये लोग अपने अहंकार के सामने किसी को कुछ नहीं समझ रहे है और खून की होली खेल कर ही फ़ैसला करना चाहते हैं। एक-मात्र तलवार ही इनकी सहायक है! इन्होंने यही अपना सिद्धान्त बना लिया है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने परीक्षा लेकर शिक्षा दर्शानी चाही। अपने लटकते हुए सिर को ऊँचा उठाया और कहा—देखते क्या हो, एक तकिया लगाओ।

भीष्म की ललकार-भरी आवाज निकली ही थी कि दुर्योधन, कर्ण आदि बढ़िया-बढ़िया मखमली और रुईदार तकिया ले आए। किन्तु भीष्म ने कहा—यह क्या लाए हो! यह तकिया तुम्हारे लिए होंगे; भीष्म के लिए नहीं हैं। यह तकिया लाकर तुमने भीष्म का अपमान और उपहास किया है!

फिर अर्जुन की ओर इशारा किया।

संकेत पाते ही अर्जुन ने धनुष-बाण लिया और सिर के दोनों तरफ बाण मारकर तकिया बना दिया। भीष्म ने उस पर सिर रखकर कहा—भीष्म के लिए यही तकिया उपयुक्त है। तुम देख रहे हो कि मेरे शरीर में बाण चुभ रहे हैं, मेरी आत्मा वीरगति की प्रतीक्षा में है, एक सच्चा क्षत्रिय युद्ध में लड़ते-लड़ते अपनी मृत्यु का आह्वान कर रहा है। तो उसके लिए बाणों की शय्या के साथ बाणों का ही तकिया भी चाहिए। कुछ क्षण रुककर भीष्म ने फिर कहा—दुर्योधन! तुम अब भी मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हो और अर्जुन अब भी मर्यादा के भीतर है। वह योग्य-अयोग्य को समझता है, किन्तु तुम्हारे अन्दर यह चीज मुझे नही मिलती। तुम्हें कब विवेक प्राप्त होगा?

मेरा अभिप्राय यह है कि भीष्म ने तकिया माँगा तो अर्जुन ने उनकी माँग पूरी की। दुर्योधन आदि ने जो तकिये लाकर दिये वे मर्यादा के अनुरूप नहीं थे। बाण तो चुभने वाले ही थे, किन्तु बाणों की शय्या की मर्यादा यही है कि

तकिया भी वाणों का हो। इसी में उस शय्या का गौरव था। अर्जुन ने वाण-शय्या की मर्यादा को समझा और उसे पूरा भी किया।

हम समझते हैं, जो गृहस्थ अपनी मर्यादाओं को समझेगा और उनके अनुसार व्यवहार करेगा, वही सच्चा गृहस्थ है, और अपनी मर्यादाओं को जानने वाला साधु ही सच्चा साधु है।

क्या भगवान् के पास और क्या सन्त के पास जाना हो तो देखो कि उनकी क्या-क्या मर्यादाएँ हैं। अगर उन मर्यादाओं का ठीक-ठीक पालन करोगे तो सच्चे उपासक, पुजारी या भक्त कहला सकोगे। उनकी मर्यादाओं के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि के पुष्प लेकर उनके चरणों में पहुँचोगे तो सच्चे भक्त वनोगे।

और प्रभु के पास जाते समय केवल सचित्त द्रव्यों का त्याग करने से ही काम नहीं चलेगा; अहंकार का भी त्याग करना होगा और भक्त के योग्य नम्रता भी धारण करनी होगी।

भगवान् के समवसरण में जाने की क्या मर्यादाए हैं, प्रसंग पाकर मैं ने संक्षेप में यह वतला दिया है। प्रस्तुत सूत्र में इन मर्यादाओं के सम्बन्ध में उल्लेख न होने पर भी यही मानना होगा कि आनन्द ने समवसरण में प्रवेश करते समय वहाँ की मर्यादाओं का पूर्ण रूप से पालन किया। आनन्द

एक विवेकशील गृहस्थ था। उसकी भक्ति अंधी भक्ति नहीं थी। वह भगवान् के समवसरण में पहुँचा—तो, वहाँ की सभी मर्यादाओं का उसने पालन किया।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२३-८-५०

———

वन्दना

यह श्रीउपासकदशांग सूत्र है और आनन्द का वर्णन आपके सामने चल रहा है। आप सुन चुके हैं कि भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम नगर के बाहर पधारे हैं। आनन्द भगवान् के दर्शन करने और उनका प्रवचन सुनने के लिए समवसरण में पहुँच गया है। और वहाँ पहुँच कर उसने क्या किया, सूत्रकार के शब्दों में ही सुनिए—

जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेत्ता वंदइ, नमंसइ, जाव पज्जुवासइ।'

आनन्द जब भगवान के समवसरण में पहुँचा और जब

भगवान् के चरणों में पहुँच गया, तो उसने तीन बार दाहिने हाथ की ओर से प्रारंभ करके भगवान् की प्रदक्षिणा की। वंदना की, नमस्कार किया, सत्कार-सन्मान दिया, और पावन् चरणों में नमस्कार करके फिर उपासना करने लगा।

एक भाई का प्रश्न है कि आनन्द यदि जैन नहीं था तो उसने 'तिक्खुत्तो' का पाठ कैसे जाना ? प्रश्न ठीक किया गया है और उसका समाधान भी करना ही चाहिए।

आनन्द जैन नहीं था, फिर भी उसका वन्दना करने का ढंग वही है, इस कारण यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि आनन्द को जैन ही क्यों न समझा जाय ? इस प्रश्न का निपटारा करने के लिए हमें शकडाल-पुत्र के वर्णन की ओर ध्यान देना चाहिए। उसके वर्णन की ओर इसलिए कि वह निश्चित रूप से जैन नहीं था। वह गोशालक का अनुयायी था, यह बात निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध है। वह जब भगवान् के पास पहुँचता है तो इसी विधि से वंदना करता है—तथा अन्य भक्तों के विषय में भी यही पाठ आता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि चाहे कोई जैन गृहस्थ हो या जैनेतर हो, सब ने इसी विधि से वन्दन-नमस्कार किया है। अतएव आनन्द के वन्दन-नमस्कार में ऐसी कोई खास बात नहीं है, जिससे उसके जैन होने का अनुमान किया जा सके।

सूत्र के मूलपाठ में बतलाया है—आनन्द ने भगवान् के

पास पहुँचकर तीन वार प्रदक्षिणा की, नमस्कार किया, भगवान् के चरणों में बैठ गया और उपासना करने लगा।

इस वर्णन में कोई ऐसी असाधारण वात नहीं है, जिसका सम्वन्ध किसी खास धर्म के ही साथ हो। भारतवर्ष के जितने भी धर्म हैं, उन सव में लगभग यही परिपाटी है। जैन-धर्म को देखें, बौद्धधर्म को देखें अथवा वैदिकधर्म को देखें, सबमें यही चीज़ है। किसी भी धर्म के महापुरुष के सामने जाकर कोई भी शिष्ट, विवेकवान् और मर्यादा को समझने वाला पुरुष ऐसा ही करता है।

अभिप्राय यह है कि नमस्कार करने की पद्धति का धर्म के साथ सम्वन्ध नहीं है, किन्तु उसका सीधा सम्वन्ध उस समय में प्रचलित जनता के शिष्टाचार के साथ है। उस समय जनता के शिष्टाचार की धारा इसी रूप में वह रही थी। क्या जैन और क्या अजैन सव इसी पद्धति से नमस्कार करते थे। संत के चरणों में पहुंचे तो तीन प्रदक्षिणा करके वन्दना कर लें, मत्था टेक लें—नमस्कार करलें और उपासना में लग जाएँ, यही शिष्टजनसम्मत पद्धति उस समय प्रचलित थी।

तिक्खुत्तो का पाठ बोलना एक वात है और उसके आशय के अनुरूप व्यवहार करना दूसरी वात है। 'तिक्खुत्तो' का पाठ वोलने का तो यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई उल्लेख शास्त्र में नहीं है कि आनन्द ने यह पाठ बोला!

इस पाठ के अनुसार व्यवहार करने की ही बात है और उसका स्पष्टीकरण हो ही चुका है कि ऐसा व्यवहार सभी जगह होता रहा है और सभी धर्मों के अनुयायी करते रहे हैं।

जब हम यह पाठ बोलते हैं तो हम समझते हैं कि यह हमारा अपना है। शाब्दिक रूप में यह कथन ठीक माना जा सकता है; परन्तु जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति उस समय इसी प्रकार का व्यवहार करता था। जो उस समय के इतिहास को बारीकी से जानते होंगे, उन्हें पता चल जाएगा कि उस काल में नमस्कार करने की यह सर्वसम्मत पद्दति थी।

जिस विधि से आनन्द ने भगवान् की वन्दना की। उस विधि से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आनन्द को 'तिक्खुत्तो' का पाठ याद था।

शास्त्रों में जहाँ कहीं भी किसी के किसी भी धर्मतीर्थंकर या सन्त के पास जाने और वन्दन-नमस्कार करने का वर्णन आता है सब जगह यही पाठ आता है—'तिक्खुत्तो आय-हिणं पयाहिणं करेइ, वंदइ, नमंसइ जाव पंजावासइ।' किन्तु कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं आता कि–तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमसामि जाव पज्जु-वासामि।

इन दोनों पाठों में जो अन्तर है, उसका आशय यह है

कि साधक या भक्त यह पाठ नहीं बोल रहा है; बल्कि उस साधक ने जिस ढंग से वंदन-नमस्कार किया है, उसे शास्त्र-कार अपनी ओर से बतला रहे हैं। और शास्त्रों में जिस रूप में पाठ आया है, वही रूप ठीक भी है; क्योंकि साधक ने भगवान् या सन्त के पास पहुँच कर क्या-क्या किया, यह वर्णन शास्त्रकार की ओर से किया जा रहा है। साधक जो किया करता है, वह करता ही है, कहता नहीं है; और शास्त्रकार उसे कहते हैं।

आप किसी से मिलने जाते हैं तो ज्यों ही वह दृष्टिगोचर होता है, आप अपने चेहरे पर प्रसन्नता का भाव झलकाते हैं, मगर यह तो नहीं कहते कि—'मैं प्रसन्नता का भाव झलका रहा हूँ। प्रसन्नता झलका कर आप यथायोग्य हाथ जोड़ते हैं, तब भी यह नहीं कहते—'मैं हाथ जोड़ता हूं।' फिर आप उससे कुशल-क्षेम पूछते हैं तो क्या यह कहते हैं कि—'मैं कुशल-क्षेम पूछता हूं।' और फिर बैठ जाते हैं। तब भी 'मैं बैठ रहा हूँ।' ऐसा नहीं कहते। मतलब यह है कि जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उन्हें चेष्टा करने वाला कहता नहीं रहता है। उसका काम चेष्टाएँ करना है।

जो साधक भगवान् के चरणों में पहुँचता है, वह तीन चार प्रदक्षिणा करता है, वन्दना करता है, नमस्कार करता है और बैठ जाता है। यह सामान्य शिष्टाचार है। आनन्द भी यही शिष्टाचार व्यवहार में लाया है और शास्त्रकार ने

उसे शब्दों में बाँध दिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि आनन्द ने इस पाठ का उच्चारण किया है।

'तिक्खुत्तो' के पाठ में जो चीज़ है, वह मूल में करने की चीज़ थी, कहने की नहीं। किन्तु जब चरित्र का वर्णन आया तो उस विधि का शब्दों में उल्लेख हुआ। जब शब्दों में उल्लेख हुआ तो आचार्यों ने 'करेइ' की जगह 'करेमि' 'वदइ' की जगह 'वंदामि', 'नमंसइ' की जगह 'नमंसामि' और यावत 'पज्जुवासइ' की जगह 'पज्जुवासामि' रूप दे दिया और वह करने के साथ-साथ कहने की भी चीज़ बन गई। परन्तु जब यह पाठ अलग होता है, तभी यह रूपान्तर ठीक बैठता है; किसी चरित्र के वर्णन में यह रूपान्तर ठीक नहीं बैठ सकता। अतएव चरित्र के वर्णन में सभी शास्त्रों में वह पहले वाला 'करेइ' 'वंदइ' आदि पाठ ही आता है और वही पाठ यहाँ आया है।

सारांश यह है कि यहाँ आनन्द के चरित्र-वर्णन में जो तिक्खुत्तो वाला पाठ है, वह शास्त्रकार का अपनी ओर से लिखा गया पाठ है। वह आनन्द के बोल नहीं हैं। आनन्द के बोल होते तो वह 'करेमि' आदि उत्तमपुरुष सूचक बोलता, 'करेइ' आदि अन्य पुरुषसूचक क्रियाएं न बोलता।

तो आनन्द ने जिस पद्धति का अवलम्बन किया, वह भारतीय पद्धति है और बौद्धों में तथा वैदिक समाज में भी प्रचलित है। महान पुरुष को नमस्कार करना चाहिए और

नमस्कार करने में सिर झुकाना चाहिए, यह सब जगह रिवाज है।

कई शब्द ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में हमारा यह ख्याल हो जाता है कि इनका यही रूढ़ अर्थ है और दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। हमारे पड़ौसी सम्प्रदाय में भी वह शब्द प्रचलित हैं और वहाँ उनका अर्थ कुछ दूसरा है, इस बात की कल्पना भी हममें से बहुतों को नहीं होती। उदाहरण के लिए एक 'पोषध' शब्द को ही लेलें। हमारे यहाँ उत्तराध्ययन सूत्र में नमि राजर्षि का अध्ययन है। नमि दीक्षा लेते हैं और इन्द्र ब्राह्मण के वेश में उनकी परीक्षा लेने आता है। तब एक जगह इन्द्र कहता है:—

> घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं।
>
> इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ॥
>
> —उत्तराध्ययन,' ९

हे राजन्! आप एक अच्छे गृहस्थ थे और गृहस्थावस्था में रहकर उन्नति कर सकते थे। गृहस्थाश्रम भी बड़ा आश्रम है। फिर इसका त्याग करके आप दूसरे आश्रम को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? गृहस्थाश्रम में ही रह कर 'पोषध' करो।

यहाँ 'पोषध' शब्द आया है। हमारे कुछ टीका-कारों ने जो साधारण नहीं, बड़े विद्वान गिने जाते हैं और जिनकी बड़ी ख्याति और प्रतिष्ठा है, 'पोषध करो' का अर्थ किया

है कि तुम गृहस्थधर्म में रहो और तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों और पाँच अणुव्रतों का पालन करो और इस श्रावकधर्म के द्वारा ही अपना कल्याण कर लो।

पोषध (पोसह) शब्द को देखकर ही टीकाकारों ने समझ लिया कि यहाँ जैन परम्परा का सम्बन्ध है, क्योंकि 'पोषध' शब्द जैन परम्परा में ही प्रचलित है। दूसरी परम्पराओं में वह सुनाई नहीं देता है। अतएव 'पोषध करो' का मतलब है गृहस्थधर्म का पालन करो।

किन्तु इन्द्र के इस कथन के उत्तर में नमि राजर्षि कहते हैं:—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण उ भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

—'उत्तराध्ययन' ९

जो बाल है, अज्ञानी है, जिसे धर्म का विवेक नहीं प्राप्त हुआ है, वह साधक, पोषध की तो बात ही क्या, यदि महीने-महीने की तपस्या करे और पारणा के दिन घास की नोंक पर जितना अन्न और पानी आवे, उतना अन्न-पानी खा-पी कर फिर महीने भर की तपस्या करे; तो इतना बड़ा तप भी विशुद्ध धर्म के सोलहवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता।

इन्द्र के कथन के उत्तर में नमि राजर्षि ने ऐसा कहा। दोनों के कथन पर आप ध्यान से विचार करें। टीका कारों

के अनुसार इन्द्र पाँच अणुव्रत आदि गृहस्थ धर्म का पालन करने की बात कहता है और उस कथन के उत्तर में नमि राजर्षि कहते हैं कि बड़े से बड़ा बालतप भी विशुद्ध धर्म के सोलहवें भाग की बराबरी नहीं कर सकता।

इस उत्तर से तो ऐसा जान पड़ता है कि नमि राजर्षि पाँच अणुव्रत आदि को बालतप समझते हैं। किन्तु जैनधर्म उसे बालतप नहीं समझता।

तो फिर राजर्षि का यह कैसा उत्तर है। इन्द्र ने कहा कि साधु मत बनो, गृहस्थधर्म का पालन करो और उसके उत्तर में नमि कहते हैं कि बालतप करने से कल्याण नहीं होता-बालतपस्वी का बड़े से बड़ा तप भी धर्म का अंश नहीं है।

तब या तो यही मानना होगा कि नमि राजर्षि गृहस्थ-धर्म को बालतप समझते हैं या यह समझना होगा कि उन्होंने इन्द्र के कथन का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया। उन्होंने, कहे खेत की और सुने खलहान की वाली उक्ति चरितार्थ की है। प्रश्न कुछ और है, उत्तर कुछ और है। प्रश्न के साथ उत्तर का कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्र गृहस्थधर्म पालने की बात कहता है, उसके उत्तर में कुछ भी न कह कर वे बाल-तप पर बरस पड़ते हैं।

मैं समझता हूँ, इसमें नमि राजर्षि का कोई दोष नहीं है। न यही मानना योग्य है कि वे गृहस्थधर्म को बालतपस्या

समझते हैं और न यही समझना चाहिए कि उन्होंने उत्तर में अप्रस्तुत बात कही है।

तो फिर इस परस्पर असंगत प्रश्नोत्तर की संगति किस प्रकार बैठ सकती है? आइए, इस पर विचार करें।

आप सुन चुके हैं कि मूल में गृहस्थधर्म की कोई बात नहीं है। वहाँ तो सिर्फ 'पोसह' शब्द आया है और टीकाकारों ने ही 'पोसह' का अर्थ गृहस्थधर्म कर दिया है। 'पोसह' शब्द को देखते ही उन्होंने समझ लिया कि यह तो जैनधर्म का ही 'पोसह' है। इसी कारण यहाँ प्रश्न और उत्तर में असंगति मालूम होती है। उन्होंने वैदिक धर्म का अध्ययन किया होता और बौद्धधर्म का भी कुछ अध्ययन किया होता तो ज्ञात हो जाता कि पोसह (उपोषथ, पोषद) शब्द का व्यवहार उन परम्पराओं में भी होता है। इन्द्र का कथन उसी पोषध के खयाल से है, अर्थात् वैदिकधर्म की हिंसामूलक यज्ञीय तपस्या को ध्यान में रखकर इन्द्र ने प्रश्न किया है और नमि राजर्षि ने उसी दृष्टिकोण से उत्तर दिया है। इस प्रकार विचार करने पर कोई असंगति नहीं रह जाती।

यहाँ मेरा आशय टीकाकारों की भूलें बतलाना नहीं है। आशय यह है कि व्यापक अध्ययन के अभाव में कभी-कभी बड़ी गड़-बड़ी हो जाती है। जैसे पोपध शब्द जैनेतर सम्प्रदायों में भी प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार तीन बार प्रदक्षिणा

देकर वन्दना करने की पद्धति भी सभी सम्प्रदायों में है। जैन भी इसी ढङ्ग से वन्दना करते थे और दूसरे भी इसी ढङ्ग से वन्दना करते थे। भारतवर्ष में गुरु का आदर-सम्मान करने की उस समय यही परम्परा थी। परन्तु जान पड़ता है, दूसरों में यह परम्परा बदल गई और हमारे यहाँ अब भी प्रचलित है।

मैं समझता हूँ, प्रश्नकर्त्ता का इस विवेचन से समाधान हो जायेगा। अभी-अभी मैं आपसे कह रहा था—

आनन्द भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा करके नमस्कार करता है।

आजकल तीन बार हाथ घुमाकर प्रदक्षिणा करली जाती है। किन्तु प्राचीन काल में प्रदक्षिणा करने की दूसरी परिपाटी थी। उस समय जिसकी प्रदक्षिणा करनी होती, उसके शरीर के चारों ओर घूम-घूम कर परिक्रमा की जाती थी। गुरु जहाँ विराजमान होते, वहाँ सब तरफ़ साढे तीन हाथ भूमि खाली छोड़ी जाती थी और वहाँ कोई बैठ नहीं सकता था। जब कोई भक्ति नमस्कार करने को आता तो पहले उस साढे तीन हाथ की भूमि में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता था। आज्ञा प्राप्त हो जाने पर वह उस भूमि में प्रवेश करके गुरु के चारों ओर फिर कर परिक्रमा करता था। उस समय प्रदक्षिणा करने की यह परिपाटी थी। हमारे यहाँ 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ में बोलते हैं कि—'मुझे अवग्रह में प्रवेश

करने की आज्ञा दीजिए।' यह अवग्रह वही खाली भूमि है, जो गुरु के चारों ओर परिक्रमा करने वालों के लिए खाली रक्खी जाती थी।

इस भूमि में प्रवेश करने के लिए गुरु की आज्ञा माँगी जाती थी। गुरु जब आज्ञा दे-देते तो भक्त उसमें प्रवेश करता। गुरु के चरणों का स्पर्श करता और फिर, अपने नहीं; किन्तु गुरु के दाहिने हाथ की ओर से प्रारम्भ करके चारों ओर चक्कर लगाता और सामने आने पर वन्दना करता था। फिर दूसरे चक्कर में सामने आने पर वन्दना करना और इसी प्रकार तीसरे चक्कर में भी। इस तरह तीन प्रदक्षिणा करने के बाद नमस्कार करता था। मन्दिरों में आज भी यही परिपाटी प्रचलित है। वहाँ मूर्ति को भगवान् के रूप में स्थापित कर दिया जाता है और उसी प्रकार परिक्रमा की जाती है, जैसे भगवान् के सामने की जाती थी।

मैंने पुराण और उपनिषद् भी देखे हैं। उनमें भी तीन बार प्रदक्षिणा करने का उल्लेख मिलता है।

अब हमारे यहाँ यह रिवाज नहीं रहा। अब गुरुजी बीच में नहीं बैठते और जब बीच में नहीं बैठते तो भक्त तीन बार प्रदक्षिणा करे भी तो कैसे करे? और फिर भक्त भी उतावले हो गए हैं। कौन तीन बार परिक्रमा करने में समय व्यय करे? तो प्रदक्षिणा का संक्षिप्त रूप निकाल लिया

गया कि तीन बार हाथ घुमा लिये और बस, तीन परिक्रमाएं हो गईं।

आपको ध्यान में रखना चाहिए कि हज़ारों वर्षों पहले जो परम्पराएँ प्रचलित थीं, वे सभी उसी रूप में ज्यों की त्यों नहीं रह गई हैं। उनमें परिवर्तन हो गया है। इतने लम्बे काल में कुछ न कुछ परिवर्तन आ ही जाता है और बड़ी विधियाँ छोटी हो जाती हैं।

एक उदाहरण लीजिए। किसी ने मुझसे कहा—आप यह 'तिक्खुत्तो' कहाँ से लाये ? गुरु को तो 'इच्छामि खमासमणो' से वन्दना करना चाहिए, क्योंकि तीसरा आवश्यक गुरु-वन्दना है। पहला आवश्यक सामायिक, दूसरा चतुर्विंशतिस्तव और तीसरा गुरुवन्दन है। वन्दना में 'इच्छामि खमासमणो' ही पढ़ते हैं। इसका अर्थ यही हुआ कि वन्दना 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से ही करना चाहिए।

मैंने उनसे कहा—बात ठीक है और पहले ऐसा ही होता था। यही विधि प्रचलित थी। परन्तु आपने क्या किया है ? आप 'इच्छामि खमासमणो' से शुरू करके और बीच में उसका संक्षिप्ति-करण करने के लिए 'जाव' को डाल कर एक दम ही आखिरी मंज़िल पर पहुँच जाते हैं और बीच के सारे पाठ को गुम कर देते हैं। कहीं-कहीं तो टब्बों में सारा ही पाठ गायब कर दिया है। तो आपने यह 'जाव' कहाँ से लगा दिया ? आप हों या हम हों, सचाई सबको स्वीकार

करना चाहिए। सब पर काल का प्रभाव पड़ता है। परिस्थितियों ने समेट दिया है। परिस्थितियों ने आपको भी प्रभावित किया है और हमको भी प्रभावित किया है। आप मन्दिरों में तो प्रदक्षिणा दे रहे हैं, किन्तु गुरु की प्रदक्षिणा कहाँ चली गई है?

आशय यह है कि कोई भी धर्म या सम्प्रदाय हो, देश, काल और परिस्थिति के प्रभाव से वह अछूता नहीं रह सकता। सब पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव के कारण प्रदक्षिणा की विधि भी छोटी पड़ गई और सिर्फ़ हाथों की प्रदक्षिणा रह गई। आज तो ऐसा लगता है कि हाथों की प्रदक्षिणा भी रह जाय तो गनीमत समझिए। पुराने-पुराने लोग हाथों की प्रदक्षिणा को कायम रक्खे हुए हैं, आगे आने वाली सन्तानों में तो इसका रहना भी मुश्किल है। आज भी प्रायः 'मत्थएण वंदामि' ही रह गया है और ध्यान रखना होगा कि धीरे-धीरे कहीं यह भी गायब न हो जाय।

हाँ, तो आनन्द तो उस प्राचीन युग का भक्त है। उसने अपने युग के अनुसार तीन बार प्रदक्षिणा दी, वन्दना की, नमस्कार किया और फिर उपासना करने लगा।

वन्दन और नमस्कार क्यों किया जाता है? इसका प्रयोजन क्या है? महत्त्व क्या है? जब कोई साधक अपने गुरु के समक्ष पहुँचता है तो अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता

है और उसका अर्थ है कि अपनी सम्भावनाएँ अर्पण करता है। वन्दन-नमस्कार करते समय मस्तक झुकाया जाता है और समग्र शरीर में मस्तक ही सब-कुछ है। यदि पाँच सौ धनुष का शरीर है और उसमें मस्तक नहीं है तो वह शरीर लाश ही होगा। इतने बड़े शरीर में भी मस्तक ही महत्त्व की वस्तु है।

जब साधक कहता है कि मैं मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ, तो इसका अर्थ यह होता है कि मैं सिर की भेंट देता हूँ। और जब सिर की भेंट दे दी तो शेष क्या रह गया? फिर तो सर्वस्व ही समर्पित कर दिया गया। अपने गहरे मित्र के प्रति कहा जाता है—'मैं तुम्हारे लिए अपना सिर देने को तैयार हूँ।' इसका अर्थ यही होता है कि मैं सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार हूँ।

मनुष्य के पास जो प्रतिष्ठा, वैभव और इज्ज़त है, वह सिर ही है और सिर है तो सभी-कुछ है।

तो जब साधक कहता है कि—'मैं मस्तक से वन्दना करता हूँ,' तो उसका अर्थ यह होता है कि मैं सिर अर्पण करता हूँ। मगर सिर को अर्पण करने का मतलब क्या है? मतलब यह है कि सोचने-विचारने की क्रिया मस्तक के अन्दर ही होती है, तो मैं अपने विचार आपके अधीन करता हूँ। अर्थात् आपके जो विचार होंगे, वाणी होगी, वही विचार और वही वाणी मेरी भी होगी। जो आपकी भाव-

नाएँ होंगी, वही मेरी भावनाएं होंगी। आपके और मेरे विचार और वचन में कोई अन्तर नहीं होगा—कोई द्वैत नहीं होगा।

इस प्रकार अपने विचार, वचन, चिन्तन और मनन में अनुरूपता लाना, गुरु के विचार और वचन आदि के साथ उन्हें जोड़ देना ही उन्हें मस्तक झुका कर वन्दन-नमस्कार करने का अभिप्राय है।

सिर तो हड्डियों का ढेर है। उसमें रहे हुए विचारों का ही महत्त्व है। उनको अर्पित कर देना ही महत्त्वपूर्ण अर्पण है। सिर का अलंकारिक अर्थ विचार और भावना ही है। लोग कहते हैं—अमुक का सिर फिर गया है। यहाँ भी सिर का अर्थ विचार ही होता है। विचार उलट-पलट जाते हैं, मस्तक तो ज्यों का त्यों बना रहता है।

तो सिर देने का अर्थ विचारों और भावनाओं को अनुरूप बनाना है। सिर के अन्दर यदि भावनाओं की चमक नहीं है तो सिर का कोई मूल्य नहीं है। हजारों वर्षों से वन्दन हो रहा है, किन्तु जहाँ भावनाओं का अर्पण नहीं, वहाँ वन्दन का कोई वास्तविक मूल्य नहीं। वन्दन तो भावनाओं द्वारा ही होना चाहिए। जहाँ वन्द्य और वन्दक में विचार की एकता है, भावना की अनुरूपता है- वही भाव-वन्दन है। यह नहीं है तो वह द्रव्यवन्दन मात्र है—हड्डियों के ढांचों को झुकाना भर है।

सिर झुक रहा है और 'दयावालों' की ध्वनि गूंज रही है, किन्तु धर्म का उपदेश ठुकराया जा रहा है और धर्म की आज्ञाओं का पालन नहीं हो रहा है। वह हवा में ही उड़ाई जा रही हैं। परिणाम यह होता है कि जीवन का कल्याण और विकास नहीं हो पाता है। अतएव आवश्यक यही है कि जीवन में भावनाओं का प्रकाश हो और प्रत्येक क्रिया में भावना की ज्योति जगमगाती हो।

साधु अपने गुरु को दस-बीस वर्षों तक वन्दन करता है, सिर झुकाता है और जब कोई महत्वपूर्ण बात आ जाती है, आज्ञा का पालन करने का विशेष अवसर आता है तो चेला किधर हो जाता है और गुरुजी किधर हो जाते हैं। यह सब क्या है?

और आप गृहस्थ लोग भी क्या करते हैं? जब गुरु देश और काल की दृष्टि से, जीवन-विकास का कोई महत्वपूर्ण संदेश देते हैं तो आप अपनी रूढ़ियों और परम्पराओं के अधीन रहकर, उसे ठुकरा देते हैं, उसका तिरस्कार कर देते हैं। जहाँ गुरु की सूचनाओं का तिरस्कार होता है, अवज्ञा होती है और गुरु के संदेश पैरों से कुचले जाते हैं, वहाँ सिर को उनके चरणों में रख देने पर भी क्या लाभ हो सकता है? यह तो केवल यांत्रिक क्रिया है। मशीन की तरह शरीर से चेष्टा करना है। असली वन्दन तो गुरु की भावना में अपनी भावनाओं को मिला देना ही है।

हम लोग सम्प्रदायों में बँट गये हैं। गिरोह बन गए हैं। वन्दन करने चले तो अपना गज बना लिया है और उसी गज से नापना शुरु कर दिया है। यह अमुक सम्प्रदाय का है या नहीं, यह देखा जाता है और अमुक सम्प्रदाय का है तो उसे वन्दना कर ली जाती है। इस प्रकार वन्दना का गज सम्प्रदाय-विशेष बन गया है। किन्तु वास्तव में वन्दना का गज है—चारित्र ! इस गज से कौन नापता है ? जिसे वन्दना की जा रही है, उसमें त्याग-वैराग्य है या नहीं, चारित्र है या नहीं, इसकी आज कौन परवाह करता है ? हम अपना समग्र जीवन जिसके चरणों में अर्पित कर रहे हैं, उसमें वह ज्योति है अथवा नहीं कि वह हमारे जीवन को भी उद्भासित कर सके ? यह प्रश्न ही आज किसी के अन्तःकरण में नहीं उठता। बस, जो मेरे गुरु का चेला है, उसी को मेरी वन्दना है—इसी ममत्व के भाव से प्रेरित होकर सिर झुका लिया जाता है।

मस्तक बड़ी चीज है। हजारों, लाखों और करोड़ों वर्षों से सिर की रक्षा के लिए दुनिया से लड़ते आए हैं। तो जब मस्तक को अर्पण किया जाय तो देख लेना चाहिए कि जिसे मस्तक अर्पण कर रहे हैं, उसमें आचार का अंश है या नहीं ?

सम्प्रदाय को वन्दना का गज मत बनाइए। जो अमुक सम्प्रदाय का है वह कैसा भी क्यों न हो, वन्दनीय है; उसमें

चारित्र है तो अच्छा है और नहीं है तो भी अच्छा है; यह मत सोचिए। यह भी मत सोचिए कि किसी में कितना ही ऊँचा चारित्र क्यों न हो, वह हमारे सम्प्रदाय का नहीं है और इस कारण वन्दनीय भी नहीं है। जो जिनवर की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, चारित्र का पालन करते हैं- जो अपनी आत्मा को ऊँची उठा चुके हैं और जो आपके जीवन को अपने आदर्श या उपदेश से ऊँचा उठा सकते हैं, वे सब वन्दनीय हैं; फिर चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों। वन्दना आचार की दृष्टि से होनी चाहिए, परम्परा की दृष्टि से नहीं। सम्प्रदाय का मोह न रखकर वन्दन कीजिए। दूसरे के सम्प्रदाय के अच्छे से अच्छे संयमपरायण सन्त की वन्दना करना इस आधार पर मत छोड़ दीजिए कि वह आपके सम्प्रदाय के नहीं।

जहाँ तक मैं ने समझा है, वन्दना करने का यही शास्त्रानुमोदित ढङ्ग है और प्राचीन काल में यही ढङ्ग प्रचलित भी था। उस समय के लोग सदाचार की बात ही मालूम करते थे, सम्प्रदाय की दृष्टि से विचार नहीं करते थे।

एक सज्जन मेरे पास आए। बातचीत हुई। कहने लगे— पहले अलग-अलग सम्प्रदायों के चौमासे होते थे तो हजारों रुपये खर्च हो जाते थे। दया होती थी, समायिकें होती और पंचरंगी होती थी। इस वर्ष तो सारा सावन

गुजर गया है और पंचरङ्गी ही नहीं हुई। यह तो होनी चाहिए।

मैं सोचता हूँ—पंचरङ्गी तो करते हो, पहले एक रंग तो कर लो! एक रंग होने के बाद पंचरङ्गी में आनन्द होगा।

फिर सोचता हूँ—एक-एक पक्ष के चौमासे में पंचरङ्गी होती थी और अब नहीं हो रही है, इसका वास्तविक कारण क्या है? यदि तपस्या और कर्मनिर्जरा की भावना से पंचरङ्गी होती तो अब भी क्यों न होती? जब एक-एक पक्ष के होकर पंचरङ्गी करते हैं तो धर्म की भावना नहीं, कम्पीटीशन-प्रतिस्पर्द्धा की भावना प्रबल होती है, जैसे कि दुकानदारों में कभी-कभी हो जाती है। कहीं हम पीछे न रह जाएँ! दूसरे आगे बढ़ते हैं तो हम क्यों पीछे रहें? यह सोचकर अपनी शान के लिए तपस्या करते हैं, निर्जरा के लिए नहीं। मुझे किसी की मनोवृत्ति पर सीधा प्रहार नहीं करना है, किन्तु मैं चेतावनी देता हूँ कि आप अपनी स्थिति पर स्वयं विचार करें। कल आप धर्म करते थे तो आज वह क्यों खत्म हो गया? धर्म का वह रंग अगर अन्दर से पैदा हुआ था तो आज कहाँ चला गया?

अभिप्राय यह है कि साम्प्रदायिकता से नहीं, धार्मिकता से आत्मा का उत्थान होगा। मेरे-तेरे की भेदभावना दुनियादारी की चीजों में हो तो भले ही, धर्म के क्षेत्र में नहीं होनी

चाहिए। धर्म के क्षेत्र में गुणों का ही मूल्य होना चाहिए। मारवाड़ में मुँह देखकर तिलक लगाने की कहावत प्रसिद्ध है। तिलक करेंगे तो कर्त्तव्य के नाते नहीं करेंगे, मुँह देख-देखकर करेंगे। श्रद्धा-भावना नहीं होगी और विचार नहीं होंगे, तो उस तिलक का कोई मूल्य नहीं है। उस तिलक में प्राणों का संचार और प्रेम की लहर पैदा होनी चाहिए। प्रेम की लहर नहीं है तो वह तिलक बीच में यों ही लटक रहा है।

आप तपस्या करें तो आत्म कल्याण के भाव से करें। आग्रह करने की मेरी वृत्ति नहीं है। इस रूप में आप तपस्या करें तो भी ठीक है और न करें तो भी मुझे खेद नहीं है। मुझे कोई पत्री नहीं छपवानी है कि इतनी हजार समायिकें हुई, इतने उपवास और इतनी पंचरङ्गियाँ हुई! यह तो आपकी भावना की बात है। आपके जीवन की तैयारी है तो कीजिए, नहीं है तो मत कीजिए। तपस्या या उपवास, जो भी आपकी परम्परा है, उसका पालन आप अपने आप करेंगे, भावना से करेंगे, तब तो वह दूध है और मैंने माँग की है और आपने पूर्ण की तो वह पानी बन गई! और मैंने जोर दिया, दबाव डाला और बलात् करवाया तो वह रक्त बन गई। गोरखनाथ ने कहा है:—

आप दिया सो दूध बराबर, माँग लिया सो पानी।
छीने-झपटे रक्त बराबर, गोरख बोले बानी॥

मैं छीना-झपटी नहीं करूँगा। मैं तो आपका ध्यान इस

ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्द्धा ने हमें कहाँ तक प्रभावित कर लिया है ! आप साम्प्रदायिकता की चुद्र संकीर्णता को त्याग कर धार्मिकता के विशाल प्रांगण में आएँगे और प्रत्येक वस्तु पर उसके गुण-अवगुण की दृष्टि से ही विचार करने का अभ्यास करेंगे तो आपका कल्याण होगा और शासन का भी उद्योत होगा।

तो मैं यह कह रहा था कि वन्दना भी साम्प्रदायिकता के आधार पर नहीं, आचार के आधार पर होनी चाहिए। दिखाने के लिए नहीं, प्रेम की प्रेरणा से होनी चाहिए। देवता, तीर्थंकर भगवान् को अपने स्थान से वन्दना करते हैं तो भी भावनापूर्वक होने से वह स्वीकृत हो जाती है। यदि सामने आकर और सिर झुकाकर भी वन्दना की, परन्तु भावना नहीं हुई तो उसका कोई महत्त्व नहीं है।

आनन्द ने भगवान् की वन्दना की तो किस रूप में की ? उसने प्रभु के सन्मुख जाकर मस्तक झुकाया और साथ ही अपनी भावना और श्रद्धा भी अर्पित कर दी। इस रूप में उसका भगवान् के साथ जो सम्बन्ध जुड़ा था, वह जीवन-पर्यन्त नहीं टूटा। उस वन्दना में भावना और श्रद्धा की मजबूती थी। वहाँ प्रेम की दृष्टि थी। लोक दिखावा नहीं था, साम्प्रदायिकता भी नहीं थी।

वन्दना करने से कर्मों के बंधन टूटते हैं। चाहे तीर्थंकर

की वन्दना करो चाहे छोटे से छोटे साधु को, कर्मों की निर्जरा होती ही है।

एक भाई ने तर्क किया है—तीर्थंकर को वन्दना करने से अधिक लाभ होता है और साधु को वन्दना करने से कम लाभ होता है। इस अवसर पर मैं आपको राजा श्रेणिक की याद दिलाना चाहता हूँ। राजा श्रेणिक भगवान् के पास जाते थे और हमेशा जाया करते थे। कितनी ही बार उन्होंने भगवान् को वन्दना की होगी। किन्तु एक दिन श्रेणिक ने सोचा—मैं भगवान् को और गणधरों को वन्दन करके बैठ जाता हूँ। आज सब साधुओं को वन्दन करूँ। और यह सोच कर वह वन्दन करने को चले। जो साधु पहले श्रेणिक के यहाँ नौकर चाकर रहे होंगे, उनको भी उन्होंने उसी भाव से वन्दना की। वह वन्दना करते-करते चले गये—दूर तक चले गये। पसीना आ गया। जब आगे बढ़ने की सामर्थ्य न रही तो अपनी जगह आकर बैठ गये।

राजा श्रेणिक अपनी जगह पर बैठ गये, और उनकी भावना गौतम की पैनी दृष्टि से छिपी न रही। उन्होंने भगवान् से पूछा—आज राजा के चेहरे पर ज्योति दीप रही है। आज इन्होंने सब को वन्दना की है और अपने अहंकार को तोड़ दिया है! तो हे भगवान्! इस वन्दना का इन्हें क्या फल होगा?

भगवान् ने कहा—इन्होंने सातवें नरक का बन्धन बाँध

लिया था। वह बन्धन टूटते-टूटते पहले नरक का रह गया है। अर्थात् इन्हें ८४ हजार वर्ष तक ही नरक का दुःख देखना पड़ेगा।

भगवान् का उत्तर श्रेणिक ने भी सुना। उनके मन में आया—मैं इसे भी क्यों न तोड़ दूँ? और ज्यों ही उस बंधन को तोड़ने के लिए उठे कि भगवान् ने कहा—अब यह बात नहीं होने की। पहले तुम्हारे मनमें न नरक-स्वर्ग की भावना थी, न संसार की वासना थी। पहले तुमने सहज भक्तिभाव से वन्दना की थी। अब वह भाव नहीं रहा। अब तो नरक का भय तुमसे वंदना करा रहा है। अतएव तुम वन्दना करो या न करो, अब वह चमत्कार पैदा होने वाला नहीं है।

यह बहुत बड़ी क्रान्ति है, इन्कलाब है। जैनधर्म जब किसी क्रियाकाण्ड को करने के लिये कहता है तो साथ ही यह भी कहता है कि स्वर्ग का मोह और नरक का भय मत रक्खो। केवल आत्मशुद्धि का ही उद्देश्य रक्खो। भय से या लोभ से करनी करोगे तो उसका वह फल मिलने वाला नहीं है। भय या लोभ से की जाने वाली क्रिया में श्रद्धा उतनी नहीं रहती। तृष्णा और भीति उसे मलीन कर देती है। तो जैनधर्म न स्वर्ग के लालच से ही क्रिया करने को कहता है और न नरक के भय से ही। वह तो निरीह भाव से क्रिया करने का विधान करता है।

अभिप्राय यह है कि भगवान् को श्रेणिक ने न जाने

कितनी बार वन्दना की होगी, किन्तु एक भी नरक का बन्धन नहीं टूटा; और आज वह सर्वसाधारण संतों का वन्दना करने चला तो सभी बन्धन टूट गये, केवल पहले नरक का बन्धन रह गया ! यह उलटी बात कैसे हो गई ?

आप आचार्य को वन्दना कर लेते हैं, किसी बड़े सन्त को भी वन्दना कर लेते हैं, किन्तु छोटे साधुओं की उपेक्षा कर जाते हैं। अगर आप साधुता की पूजा करते हैं, महाव्रतों की पूजा करते हैं और आचार की पूजा करते हैं तो क्या छोटे साधुओं में यह नहीं है ? जो साधुता आचार्य में है वही छोटे साधु में भी है। उनके महाव्रतों में कोई न्यूनाधिकता नहीं है। फिर आपके मन में भेदभाव क्यों उत्पन्न होता है ?

मैं समझता हूँ, छोटों को वन्दना न करके और बड़ों को ही वन्दना करके अटक जाने में एक प्रकार का अहंकार है। सोने के सिंहासन वाले आये तो भगवान् को या आचार्य को वन्दना करके बैठ गए ! छोटे साधुओं को वन्दना करने में अहंकार को ठेस पहुँचती है।

किन्तु याद रखिए, राजा श्रेणिक ने भगवान् को वन्दना की तो अहंकार नहीं मिटा और जब इधर-उधर बैठी हुई अहिंसा और सत्य की मूर्तियों को वन्दना की तो अहंकार गला, नम्रता आई और त्याग की एक ऐसी लहर पैदा हुई, ऐसी भावना जागी कि छह नरकों के बन्धन टूट गये !

अभिप्राय यह है कि वन्दना का फल मुख्य रूप से इस

~~बात पर निर्भर नहीं कि वन्दनीय व्यक्ति कौन है, बल्कि इस~~
बात पर निर्भर है कि वन्दक किस श्रद्धा, नम्रता और निरभिमानता से वन्दना कर रहा है। श्रद्धा की कमी होने पर तीर्थंकर के चरणों में भी कोई-कोई कोरे रह जाते हैं। अतएव मुख्य बात वन्दना करने वाले की वृत्ति ही है। अलबत्ता जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, वंदनीय का चारित्र तो देखना ही चाहिए और वास्तव में गुणों को ही वन्दना करनी चाहिए।

इस प्रकार सद्भावना से, प्रमोदभावना से; श्रद्धा की भावना से छोटे से छोटे साधु को भी वन्दना करने पर महान् फल मिल सकता है। जो इस पवित्र भाव से चारित्रनिष्ठ सन्तों के चरणों में अपने अहंकार का विसर्जन कर देते हैं, वे कल्याण के भागी होते हैं।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२४-८-५०

श्रोता आनन्द

यह श्री उपासकदशाँग सूत्र है और आनन्द का वर्णन आपके सामने चल रहा है। आनन्द प्रभु के चरण-कमलों में पहुँच गया है और वन्दना-नमस्कार तथा सत्कार-सम्मान करके बैठ गया है।

भगवान् के समक्ष उस समय बहुत बड़ी परिषद् बैठी थी। तो श्रमण भगवान् महावीर ने आनन्द गाथापति और उस परिषद् को धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् जिसे जो व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करते थे, सब ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण किये। फिर सब लोग अपने-अपने घर लौट गये।

उस समय और-और साधकों ने भी व्रत-नियम आदि ग्रहण किये, परन्तु उनका विवरण हमारे सामने नहीं है। हमारे सामने तो आनन्द का वर्णन है। तीर्थंकर देव की वाणी का आनन्द पर क्या प्रभाव पड़ा—शास्त्रकार ने इसका खासा वर्णन किया है।

आनन्द ने भगवान् की वाणी को श्रवण किया। उसने उस दिव्य वाणी को केवल श्रवण ही नहीं किया, उसे हृदय में भी धारण किया। और हृदय में धारण कर उसे अपार हर्ष हुआ, प्रसन्नता हुई और उसका रोम-रोम आनन्दानुभव कर पुलकित हो उठा।

यहाँ दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। आनन्द ने वाणी सुनी और फिर निश्चय किया। अकेला सुनना कान का काम है। शब्द आये, कान में पड़े और सुन लिये। इधर सुन लिये और उधर निकाल दिये। उन शब्दों के विषय में कोई विचार नहीं किया, चिन्तन नहीं किया और निश्चय भावना नहीं लाई गई। तो, इस प्रकार के श्रवण से आत्मकल्याण नहीं होता। जीवन में आनन्द का स्रोत नहीं फूटता और बंधन नहीं टूटते। इस प्रकार तो बहुत सुना है, किन्तु उससे प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई।

यहाँ सुधर्मा स्वामी कहते हैं—आनन्द ने सुना और उस पर विचार किया। जब वह सुन रहा था उसके मस्तिष्क में तब भी विचार चल रहे थे और वह भगवान् के एक-एक

शब्द को ध्यान-पूर्वक सुन रहा था। उसने एक-एक शब्द को ग्रहण करने का प्रयत्न किया—अर्थात् शब्द-शब्द का आशय समझने का प्रयत्न किया।

इससे पता चलता है कि श्रोता को सुनने के साथ-साथ विचार भी करना चाहिये। आपको भी श्रोता का पद प्राप्त है और श्रोता का पद कोई छोटा मोटा पद नहीं है—बड़ा महत्त्वपूर्ण पद है। गौतम गणधर भी पहले आपके पद में रहे हैं। वे भी भगवान् के श्रोता रहे हैं - उन्होंने भी भगवान् की वाणी श्रवण की है। इस पद में आप भी शामिल हैं, मैं भी शामिल हूँ और कोई भी शामिल हो सकता है। किन्तु केवल सुनने भर के लिए श्रोता नहीं बनना चाहिए—चिन्तन करने, मनन करने और विचार करने के लिये ही श्रोता बनना उचित है। जो सुनकर चिन्तन-मनन करता है, वही अपना और अपने समाज एवं राष्ट्र का कल्याण कर सकता है। वह बुझी हुई चिनगारी नहीं, जलती हुई चिनगारी है। उसे ज्यों-ज्यों हवा मिलेगी, चमकती जायगी और एक दिन वही चिनगारी दावानल का रूप ले लेगी।

सुना हुआ सिद्धान्त एक चिनगारी है। उसे चिन्तन-मनन की हवा का झौंका मिलता है तो उसका विस्तार होता जाता है और विकास होता जाता है। विस्तृत और विकसित होकर वह श्रोता के जीवन का अंग बन जाता है। धीरे-धीरे मनुष्य अपने आप में पूर्ण हो जाता है। और जब वे ही

विचार वह दूसरों को देता है तो उनमें भी जीवन-ज्योति उत्पन्न हो जाती है।

भरत चक्रवर्त्ती के विषय में मैं कह चुका हूँ। उनके सामने एक साथ तीन प्रश्न पैदा हुए— चक्ररत्न की पूजा करना, पुत्र का जन्मोत्सव मनाना और भगवान् की वाणी सुनना। मगर उन्होंने पहले के दो कार्यों की उपेक्षा करके भगवान् की वाणी को सुनने को ही प्राथमिकता दी। भरत की दृष्टि में भगवान् का श्रोता बनने का जितना महत्व था, उतना चक्रवर्त्ती बनने का नहीं।

भरत ने उसी समय यह निश्चय कर लिया। तो भरत का यह महत्त्वपूर्ण निर्णय हमसे यही कहता है कि अगर एक ओर संसार भर की प्रतिष्ठा हो, सोने का सिंहासन मिलता हो और दूसरी तरफ प्रभु की वाणी सुनने का सौभाग्य मिलता हो, तो जब हम प्रतिष्ठा और सिंहासन को ठुकरा कर भी प्रभु की वाणी सुनेंगे, तभी सच्चे श्रोता का पद पा सकेंगे।

आमतौर पर क्या होता है? महाराज आ गये हैं तो चलो, थोड़ी देर के लिए हो आएँ! नहीं जाएँगे तो क्या कहेंगे? इस प्रकार की मनोवृत्ति से आये और मन को दूसरी जगह रखकर श्रोता बनकर आयें। शरीर के साथ-साथ सिर तो आ गया; मगर मन कहीं और जगह रह गया। इस तरह मन अन्यत्र भटक गया तो लड़खड़ाता हुआ श्रोता आएगा

और उसकी निगाह घड़ी की तरफ़ ही रहेगी। वह घड़ी-घड़ी घड़ी की ओर ही देखेगा और सोचेगा—कितना समय हो गया है।

जब मन अन्यत्र भटक रहा हो और सिर्फ़ कान वाणी सुन रहे हों तो क्या रस आएगा? कल्पना कीजिए कि आप भोजन करने बैठ गये और थाल में बढ़िया मिठाई आई। आपका मन खट्टा है, भूख नहीं है और मन प्रसन्न नहीं है तो वह मिठाई की थाली आपको ज़हर जैसी लगेगी। क्योंकि मिठाई के लिए आपके मन की तैयारी नहीं है! और विचार कीजिए कि मिठाई का ग्रास मुँह में डाला और उसी समय मन दूसरी जगह चला गया तो क्या मिठास का अनुभव होगा? नहीं। मन खाने में लगा होगा तो ही मिठास का अनुभव होगा। मन को एक समय में एक ही काम करना है। उसे चाहे खाने में लगाइये, चाहे और किसी काम में! सुनने में लगाइए या व्यापार में लगाइए। लगेगा वह सब जगह, मगर एक साथ दो जगह नहीं लगेगा।

तो आप देखते हैं कि मुँह में मीठा पड़ा है और मीठा मीठा ही है, फिर भी जब मन अन्यत्र होता है तो मिठास का अनुभव नहीं होता। मनुष्य के मन ने यही कहा है कि यदि मुझे यहाँ इस काम में लगा दोगे तो यहीं और यही काम करूँगा और वहाँ नहीं कर सकता। तुम चाहो कि

मुझसे एक साथ दस काम लो, तो यह नहीं होगा ! दस काम नहीं होंगे—एक ही होगा।

यह मनोवैज्ञानिकों का कहना है—तो उस मिठाई से मुँह मीठा नहीं होने वाला है जहाँ मन नहीं है। तो, मन के अभाव में प्रभु की वाणी का रस भी प्राप्त नहीं होता है। मन अन्यत्र भटक रहा हो, भाग रहा हो, नाना प्रकार के संकल्पों और विकल्पों में उलझ रहा हो तो कान भले वाणी सुनलें, मन नहीं सुनेगा। मन नहीं सुनेगा तो विचार और चिन्तन भी नहीं होगा। ऐसी स्थिति में व्याख्यान या वाणी की पूरी धारा ग्रहण नहीं की जा सकती। कहीं का कोई टुकड़ा और कहीं का कोई टुकड़ा दिमाग में पड़ जायगा और वह बहुत गलतफहमी पैदा करेगा।

आपको श्रवण का आनन्द लेना है तो मन को एकाग्र करके पूरी धारा को ग्रहण करो अन्यथा वही बात होगी कि—

एक पण्डित जी रामायण बाँचा करते—तो, एक श्रोता ऊँघता-ऊँघता आता और चला जाता। उसे कोई बात ध्यान में नहीं रहती थी। एक बार सीता के हरण की बात चली। उसने ऊँघते-ऊँघते सुन लिया कि सीता का हरिण (हिरण) हो गया। वह इसी विचार में रहा कि सीता का हरिण (हिरण) तो हो गया, देखें वह फिर आदमी कब बनेगी ? रामायण पूरी हो गई और उसके प्रश्न का समाधान कहीं न आया।

जब पंडितजी ने रामायण की समाप्ति की घोषणा की तो वह बोला—महाराज, चकमा क्यों देते हो ? रामायण तो अधूरी रह गई है।

पण्डित जी ने पूछा—अरे, बाकी क्या रह गया ?

वह बोला—बाकी कैसे नहीं रहा ? आपने सीता के हरिण होने की बात तो बताई; पर यह कब बताया कि वह फिर आदमी कब बनी ?

पण्डित जी हैरान रह गए ! बोले—सीता हरिण बनी या नहीं, मैं तो हरिण बन ही गया ! मुझे आदमी बनाओगे तब काम चलेगा।

मतलब यह कि एक डुबकी लगा दी और इधर-उधर भटक गए, फिर डुबकी लगाई और फिर भटक गए, ऐसा करने में आनन्द नहीं आता है। और आनन्द भगवान के पास ऐसा श्रोता बन कर नहीं गया है। वह पूरी तैयारी करके भगवान् की दिव्यध्वनि सुनने आया है। मन को कहीं इधर-उधर बाँध कर नहीं आया है। प्रभु के चरणों में बैठा है तो उसका मन दूसरी जगह नहीं भटक रहा है। वह एक-निष्ठ भाव से प्रभु की वाणी के साथ दौड़ रहा है। फिर आनन्द को आनन्द नहीं मिलेगा तो किसे मिलेगा ?

आनन्द प्रभु की वाणी सुनकर प्रसन्न हुआ और प्रसन्न हो कर यों ही नहीं चला गया, बल्कि उस पर आचरण करने को भी तैयार हो गया। वास्तव में सुनने का अर्थ भी यही है।

घण्टों व्याख्यान सुना, उपदेश सुना और पल्ला झाड़कर चल दिये। न उस पर चिन्तन-मनन किया और न आचरण करने का प्रयत्न ही किया—तो सुनने का अर्थ ही क्या निकला? असली आनन्द तो उस वाणी को ग्रहण करने में है। एक आदमी प्यासा हो, प्यास के मारे उसके प्राण-पखेरू उड़ने को तैयार हों और वह गंगा के किनारे खड़ा होकर गंगा के दर्शन कर ले, तो क्या उसकी प्यास बुझ जायगी? उसने गंगा के दर्शन करने का क्या लाभ उठाया? गंगा की शीतल और निर्मल धाराएँ बह रही हैं तो उनमें से एक-दो चुल्लू जल उसके मुँह में जाने से ही उसकी प्यास बुझेगी। ऐसा किये बिना मिनिट-मिनिट में बहने वाला लाखों मन पानी भी उसकी प्यास नहीं बुझा सकता।

मेघ बरसता रहता है, धाराएँ बहती रहती हैं, फिर भी कोई व्यक्ति उसे ग्रहण न करे और मन में गद्गद न हो तो क्या होगा? हमारे यहाँ मुद्गशैल पाषाण का जिक्र आता है। कितना ही पानी गिरे, उस पर कुछ असर नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् की वाणी की वर्षा होने पर भी उन श्रोताओं को कोई लाभ नहीं होता, जिनका मन उसको ग्रहण करने को तैयार नहीं होता।

तीन तरह के श्रोता बतलाये गये हैं। एक होते हैं पाषाण के समान। पाषाण को लेकर पानी में डाल दिया जाय और दो-चार घण्टे बाद निकाला जाय तो विदित होगा कि उस

पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। उसका अन्तरङ्ग तनिक भी आर्द्र नहीं हुआ है। पानी, पानी है और पत्थर, पत्थर है। इसी प्रकार कुछ श्रोता ऐसे होते हैं, जिन पर वाणी का ज़रा भी प्रभाव नहीं पड़ता, जो घण्टों उपदेश सुन कर भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। वे पाषाण सदृश श्रोता हैं।

कुछ श्रोता कपड़े की गुड़िया या पुतली की तरह होते हैं। गुड़िया को पानी में डाल दिया जाय और दो-चार घण्टे बाद निकाला जाय तो मालूम होगा कि वह भीतर तक भीग गई है। किन्तु थोड़ी देर धूप लगने पर वह सूख जायगी और उसका अस्तित्व अलग ही रहेगा। इसी प्रकार जो श्रोता वाणी की धारा में भीतर तक आर्द्र तो हो जाते हैं, किन्तु थोड़े समय में दुनियादारी की धूप लगते ही फिर जैसे के तैसे हो जाते हैं, वे गुड़िया के समान मध्यम श्रेणी के श्रोता हैं। इनके जीवन में स्थायी रस नहीं पैदा होता।

तीसरी तरह के श्रोता मिश्री की डली के समान होते हैं। मिश्री की डली को पानी में डालो और घण्टे दो घण्टे बाद देखो तो गायब ! वह कहाँ चली गई ? वह टटोलने पर भी कहीं नहीं मिलती हैं। आँख से ही गायब नहीं, स्पर्शेन्द्रिय से भी गायब हो जाती है। उसने अपना विराट् रूप बना लिया है और वह पानी के कण-कण में घुस गई है। चखने पर ही पता लगेगा कि मिश्री उसके अन्दर तल्लीन है—उसमें रम गई है। एक-रस हो गई है। जहाँ पानी जायगा, वहीं मिश्री

भी जायगी। इसी प्रकार कुछ श्रोता वाणी की धारा में अपने आपको लीन कर देते हैं। उनका जीवन रसमय बन जाता है और जीवन का पूरा स्वरूप उनके अन्दर फूट पड़ता है।

गौतम स्वामी ऐसे ही श्रोता थे। भगवान् के पास गये तो कितने आडम्बर के साथ गये ? उनका दावा था कि हम भगवान् को पराजित करेंगे और उन्हें अपना शिष्य बना कर आएँगे ! वे चेला बनाने चले, किन्तु स्वयं ही चेला बन गये। कितना अहङ्कार भरा था उनके मन में ? गली-कूँचे में से निकले तो यही घोषणा करते गये कि महावीर को शिष्य बना कर लौटेंगे !

इतना अहङ्कार होने पर भी गौतम के मन में सत्य के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा थी। मन में था कि सत्य सर्वोपरि है और सत्य मिलेगा तो ग्रहण करेंगे। सत्य को स्वीकार करने में अपनी इज्जत और प्रतिष्ठा की दीवार को आड़ी नहीं आने देंगे ! तो जब सत्य मिला, तो उसे शिरोधार्य करते हुये वह जरा भी न हिचके। नहीं सोचा कि मैं भारतवर्ष के बड़े-बड़े ब्राह्मणों में से हूँ और मेरी कीर्त्ति एक कोने से दूसरे कोने तक फैली हुई है। अगर मैंने भगवान् के वचनों को स्वीकार कर लिया तो मेरी प्रतिष्ठा के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे।

सत्य की पूजा के लिए इतनी तैयारी होना साधारण बात नहीं है। मामूली आदमी भी जिसको थोड़े से लोग ही जानते-पहचानते हैं, अपनी प्रतिष्ठा का मोह त्याग नहीं पाता।

उसे भी अपनी इज्जत का ख्याल आता है और सत्य का ग्रहण करने में संकोच करता है। हमने कोई गलत काम कर लिया है या हमसे कोई भूल हो गई है और फिर सत्य हमारे सामने आता है तो हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे खुले दिल से स्वीकार करलें। मगर सत्य कहता है कि मैं सामने आया। मेरी पूजा करो। मेरे सामने तुम्हारी अपनी प्रतिष्ठा का कोई मूल्य नहीं है।

इस प्रकार सत्य सर्वोपरि होना चाहिये। हम क्या करते और कहते आये हैं; यह विचारणीय बात नहीं है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। विचारणीय यही है कि सत्य क्या है और सत्य ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। सत्य के लिए सर्वस्व छोड़ देने को भी तैयार रहना चाहिए। जिसमें इतनी तैयारी है, वही सच्चा श्रोता बन सकता है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है :—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

आपके सामने ऐसी समस्या उपस्थित हो जाय कि एक तरफ एक व्यक्ति है और दूसरी तरफ सारा खानदान। दोनों के हित परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। तब आपको क्या करना चाहिए? एक व्यक्ति का पक्ष लेना चाहिए या खानदान का? यहाँ बतलाया गया है कि उस एक व्यक्ति के लिए सारे खानदान को बर्बाद मत करो।

दुर्योधन जब मक्कारियाँ करने लगा तो विदुर और भीष्म वगैरह धृतराष्ट्र के सामने पहुँचे। उनसे कहा—क्या कर रहे हो? दुर्योधन के रङ्ग-ढङ्ग नहीं देख रहे हो?

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—दुर्योधन बहुत कुशील है; बहुत पाजी हो गया है। उसने मुझे बर्बाद कर दिया है! सब जगह मेरा मुँह काला हो गया है। मैं अपनी गलती स्वीकार करता हूँ

तब विदुर ने कहा—तो ऐसे दुर्योधन का मोह छोड़ दीजिए। उसका परित्याग कर दीजिए। उसके पीछे क्यों सारे कुल की बर्बादी हो! दुर्योधन आपको नहीं तारेगा। वह हजारों वर्षों से चली आई प्रतिष्ठा पर पानी फेर देगा और कुल को नष्ट कर देगा। दुर्योधन से साफ़-साफ़ कह दीजिए कि हमारा तुम्हारे से कोई सम्बन्ध नहीं। उसे अपने बीच से धक्का देकर निकाल दीजिये। उस एक के पीछे समग्र कुल का सत्यानाश न कीजिये।

धृतराष्ट्र ने कहा—दुर्योधन भला है या बुरा है, आखिर तो मेरा लड़का है? वही मेरे काम आएगा। भला-बुरा तो जनता की भाषा है, सत्य की भाषा नहीं है। मैं कैसे उसका परित्याग दूँ!

एक बार एक सन्त से मेरी बात-चीत हुई। उनकी उम्र काफी पक गई थी। बूढ़े थे। उनके शिष्य ने उन्हें भी गलत रास्ते पर पहुँचा दिया और उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगने

लगा। मैंने उनसे कहा—आप कब तक मोह में पड़े रहेंगे? इस लोभ को छोड़िए। सम्भव है, आप पहले परलोक चले जाएँ या यह शिष्य ही आपको छोड़ कर चला जाय! व्यक्ति तो क्षण-भंगुर है। आज है, कल नहीं। किन्तु सत्य क्षण-भंगुर नहीं है। वह आज है और कल भी है और आजकल नहीं; अनन्त काल तक रहने वाला है। वह अमर है और मिटने वाला नहीं है।

परन्तु सन्त ने लाचारी प्रकट करते हुए कहा—आप ठीक कहते हैं, कवि जी! मगर क्या करूँ? भला या बुरा जैसा भी है, है तो अपना!

मुझे रोष नहीं आया। मैंने सोचा—हमारे संघ की जो व्यवस्थाएँ हैं वही व्यक्ति को मजबूर करती हैं। हममें एकता नहीं है। बूढ़े साधु अकेले रह जाएँ तो कौन सार-सम्भाल करे? कौन सेवा करे?

एक दिन कृष्ण ने घोषणा की थी—जिसके पुत्र नहीं, उसका मैं पुत्र बनूँगा! जिसके पिता नहीं, उसका मैं पिता बनूँगा! जो नागरिक आत्म-कल्याण करना चाहें, वे पिता-पुत्र के भरोसे न रहें। मैं उनका हूँ। उस समय भारत की यह संस्कृति थी।

तो एक तरफ सत्य है और दूसरी तरफ असत्य है। तुम सत्य को ही महत्त्व दो, असत्य को महत्त्व मत दो। अपने कुल की प्रतिष्ठा में दाग मत लगने दो और मेरे-तेरे का भेद-भाव

त्याग कर सेवा के लिए आगे बढ़ो। यह मेरा है तो सेवा करूँ और यह मेरा नहीं तो क्यों सेवा करूँ ?—यह वृत्ति जब तक बनी रहेगी, समस्या ठीक तरह हल नहीं होगी।

तो उन साधु के सामने भी यही सवाल था और धृतराष्ट्र के सामने भी यही सवाल था। धृतराष्ट्र से कहा गया कि कुल के हित के लिए एक व्यक्ति—दुर्योधन—को त्याग दो! परन्तु धृतराष्ट्र की निर्बलता ने ऐसा नहीं होने दिया। तो, परिणाम यह हुआ कि दुर्योधन के साथ कौरव-कुल का भी सत्यानाश हो गया।

आगे नीतिकार कहते हैं—एक ओर सारे गाँव का हित हो और दूसरी ओर कुल का हित हो तो कुल के हित के लिए सारे गाँव के हित का विनाश मत करो। पहले गाँव के हित को महत्त्व दो। और जब एक तरफ़ देश का हित हो और दूसरी तरफ़ गाँव या नगर का हित हो, तो देश के हित को प्रथम स्थान दो और अपने गाँव या नगर के हित की अवहेलना कर दो।

अन्त में कहा गया है—विराट बनो। एक ओर आत्मा का हित हो—स्वार्थ नहीं—तो तुम उस पर अड़े रहो—भले सारा संसार असत्य के द्वार पर खड़ा हो। तुम्हारी आत्मा का हित अहिंसा और सत्य में है। तुम्हारे अपने विचार और संकल्प हैं और वे आत्मा के हित के लिए हैं। तुम्हारे मन में राग द्वेष नहीं हैं, विशुद्ध ज्ञान है; तो उस समय सत्य की

पूजा के लिए सारे संसार को ठुकरा दो ! सारी कठिनाइयाँ झेल लो, किन्तु सत्य के लिए लड़ते रहो। जहाँ सत्य का प्रश्न है, वहाँ कुल, गाँव-नगर, संघ-सम्प्रदाय और राष्ट्र का कोई महत्त्व नहीं है। सत्य अपने आपमें महत्त्व की वस्तु है।

गौतम के सामने सत्य का सवाल था। सारे भारत में उनकी कीर्ति थी, यश था और अपनी बिरादरी में वह माने हुए विद्वान् थे। उन्होंने शास्त्रार्थ में कितने ही विद्वानों को जीता था। किन्तु जब प्रभु के चरणों में पहुँचे और उनकी वाणी सुनी तो उसी समय कहा—यही सत्य है। आज तक मैंने जो कुछ किया है, गलत काम किया है। मैं ने जनता को अन्धकार दिया है ! वास्तव में, मुझे आज ही प्रकाश मिला है।

और गौतम क्या घर लौटकर आ जाते हैं ? सत्य को समझकर भी क्या उसकी उपेक्षा कर देते हैं ? क्या अपने साथियों के पास सलाह-मशविरा करने जाते हैं ? पाँच सौ साथी तो साथ ही में थे। एक से भी पूछा कि क्या करना चाहिए ? नहीं! सत्य का प्रकाश मिला कि उसी समय प्रभु के चरणों में पड़ गए। एक बूँद समुद्र में पहुँची तो वह लीन हो गई। वापिस लौट कर नहीं आई।

जो श्रोता सत्य को अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं, वे द्रव्य श्रोता हैं, जीवन के श्रोता नहीं है।

आनन्द ऐसा श्रोता नहीं है। एक बार प्रभु के दर्शन के लिए पहुँचा और पहली बार ही वाणी सुनी तो गद्गद हो गया। उसके जीवन का कण-कण जाग उठा। सोचा, शुभस्य शीघ्रम्। आज ही जीवन का उद्धार करना है। वह यह नहीं सोचता कि सम्पत्ति का परिमाण करने के विषय में लड़कों से सम्मति ले लूँ।

आनन्द अपनी भावनाओं को लेकर भगवान् के सामने उपस्थित हो गया। अपने संकल्प की बात प्रभु के सामने रख दी। उसने एक दिन का भी विलम्ब नहीं किया।

भगवान् की वाणी सुनकर जो आचरण में लीन हो जाते हैं, उन्हीं श्रोताओं का कल्याण होता है।

आप सुनते रहते हैं कि लोभ बुरा है, मोह बुरा है और दान की बड़ी महिमा है। देखो शालिभद्र ने कैसा त्याग किया था? घर-घर से चीजें माँग-माँग कर खीर तैयार की गई थी। कहीं से दूध, कहीं से चावल और कहीं से दूसरी चीजें लाई गई थीं। उस खीर के लिए उसने कितने आँसू बहाये, कितना रोया और पड़ा रहा और मचला। तब कहीं मुश्किल से खीर तैयार हो पाई थी। वह थाली में लेकर खाने को तैयार ही था कि एक मुनि आगये, महीने के उपवास की पारणा वाले संत आ गये। बच्चे के पास पहुँचे और सोचने लगे—इसके घर की परिस्थिति बड़ी विचित्र है। और वे हटने

लगे। तब बालक ने आग्रह किया—लो, महाराज! थोड़ी तो ले ही लो।

बालक के आग्रह पर मुनि खीर लेने को तैयार हो गये। सोचा—बच्चे का मन नहीं तोड़ना चाहिए, इंकार नहीं करना चाहिए! उन्होंने पात्र निकाला और कहा—बच्चे, थोड़ी-सी डालना।

बच्चे ने कहा—हाँ, थोड़ी-सी तो है ही! इतना कह कर उसने पात्र के ऊपर जो थाली औंधाई तो सारी खीर पात्र में आ गई। बच्चे ने सोचा—संत हैं, कब-कब इनका आगमन होता है। लाभ पूरा मिला! अहोभाग्य है कि आज दान देने के लिये सुपात्र मिला।

इस प्रकार उस बालक को देने से पहले और देने के बाद भी हर्ष हुआ और जिस करनी से पहले और पीछे हर्ष की लहर होती है, वह सोना बन जाती है और उसमें सुगंध आ जाती है। उस बालक ने तो कभी उपदेश नहीं सुना था। फिर यह कैसे हुआ? उस बालक के साथ उन लोगों की तुलना कीजिए जो शालिभद्र के गीत सुनते-सुनते बुड्ढे हो जाएँगे, किन्तु जब दान का प्रश्न आएगा या स्वधर्मी की सहायता की बात आ जाएगी तो जिन्दगी भर सुनी हुई शालिभद्र की कहानी मन को जरा भी प्रेरित नहीं करेगी। और कहने पर किया तो क्या किया? जो कुछ करो अन्तः-

प्रेरणा से करो और करके हिसाब मत देखो। यही शालिभद्र की कथा सुनने की सार्थकता है।

तो श्रोता बनने से पहले मन की इतनी तैयारी आवश्यक है कि जो कुछ सुना जाय उसे शक्ति भर आचरण में लाया जाय और आचरण करते समय यह देखा जाय कि ऐसा करने से दुनियाँ क्या कहेगी? मेरे परिवार वाले क्या कहेंगे? तभी श्रोता बनने का सच्चा आनन्द आयगा।

एक राजकुमार घोड़े पर सवार हो कर, अस्त्र-शस्त्र से लैस और लाखों की कीमत के अपने आभूषण पहन कर सैर करने को चला। आगे बढ़ा तो देखा कि गाँव के बाहर मन्दिर है और वहाँ भीड़ लगी है। वह उसी ओर गया और पास पहुँच कर, घोड़े को पानी पिला कर पास ही एक वृक्ष से बाँध दिया। खुद पानी पीकर छाया में सुस्ताने लगा। उसने देखा कि सामने भीड़ में एक उपदेशक व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने कहा—संसार क्षणभंगुर है। यह जवानी फूलों का रंग है जो चार दिन चमकने के लिए है। और यह जीवन आत्म-कल्याण करने के लिए मिला है। यह शरीर क्या है? लाश है। मिट्टी है। हड्डियों का ढाँचा है। इससे खेती की तो मोतियों की खेती होगी, नहीं तो यह लाश सड़ने के लिये है।

श्रोताओं में वैराग्य की लहर दौड़ रही है। जनता बीच-बीच में जय-जय कार की ध्वनि करती है। इससे वक्ताका

उत्साह बढ़ता है और वह ज़ोरों से व्याख्यान झाड़ने लगता है। इस प्रकार वक्ता श्रोताओं में और श्रोता वक्ता में जोश पैदा कर रहे हैं।

राजकुमार दूर से ही यह सब सुन रहा था। सुनकर सोचने लगा—मैं अन्धेरी गलियों में भटक रहा था। वास्तव में, मैं मृत्यु के द्वार पर खड़ा हूँ। मौत मुझे पुकार रही है। मैंने अपने साथियों को फुँकते देखा है और एक दिन मैं भी फूँक दिया जाऊँगा। इस जीवन का क्या मूल्य हासिल होगा?

इस प्रकार वैराग्य भाव आते ही राजकुमार ने किसी को घोड़ा दान कर दिया। कपड़े उतार कर फैंक दिये और हीरे-ज़वाहरात यों ही लुटा दिये। एक साधारण-सा वस्त्र पहन कर और सन्यासी बन कर वह घूमने लगा।

बारह वर्ष बीत गये। संयोगवश घूमते-घूमते सन्यासी राजकुमार उसी वृक्ष की छाया में आया। उसने देखा, वही सभा जुड़ी हुई है और वक्ता उसी तरह गरज रहा है। वही बात दोहराई जा रही है—संसार क्षण-भंगुर है। हीरे सी ज़िन्दगी को वासनाओं में मत लुटाओ। और फिर वही जय-जय-कार की ध्वनि गूँजने लगती है।

अब वह सन्यासी आगे बढ़ा और उस भीड़ में पहुँच कर एक-एक की छाती टटोलने लगा। लोगों ने कहा—क्या कर रहे हो?

सन्यासी ने धीमे से कहा—ज़रा देखने तो दो।

वह वक्ता के पास पहुँचा और उसकी भी छाती टटोलने लगा। वक्ता ने कहा—क्या कर रहे हो?

सन्यासी बोला—देख रहा हूँ, इस ढाँचे में कहीं हृदय भी है या नहीं?

सन्यासी फिर कहने लगा—बारह वर्ष पहले इसी जगह मैंने आपका प्रवचन सुना था। प्रवचन तो क्या, उसकी कुछ कड़ियाँ सुनी थीं। उसी समय मैंने अपने जीवन का फ़ैसला कर लिया। राजकुमार का रूप त्याग कर सन्यासी का रूप धारण किया। सर्वस्व त्याग कर साधना के पथ पर चल पड़ा। इधर-उधर भ्रमण करते-करते, वैराग्य की ज्योति जगाते हुए, संयोगवश आज फिर यहाँ आ पहुँचा। देखता हूँ, वही पुरानी मूर्त्तियाँ यहाँ बैठी हैं। हाँ, इन्हें मनुष्य न कह कर मूर्त्तियाँ ही कहना चाहिए। इन मूर्त्तियों को हज़ारों वर्षों तक भी सुनाया जाय तो क्या होगा? इतने वर्षों से प्रवचन सुन रहे हैं, वर्षों पर वर्ष गुज़र रहे हैं, किन्तु अभी तक जीवन में परिवर्त्तन नहीं आया है। इसीलिए जाँच कर रहा था कि इनमें कहीं दिल भी है या नहीं।

जहाँ हृदय है वहाँ ज्ञान भरा है। वहाँ छलाँग लगती रहेगी। सहृदय एक ही प्रवचन सुनता है तो उसके जीवन में एक प्रवाह पैदा हो जाता है।

तो सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कह रहे हैं—आनन्द

ने भगवान् की वाणी सुनी और उस पर विचार किया और उसका रोम-रोम हर्ष से पुलकित हो उठा। उसके मन में बिजलियाँ चमकने लगीं। हृदय प्रकाश से परिपूर्ण हो गया।

सचमुच ऐसा श्रोता धन्य है और उसका जीवन मङ्गलमय होगा।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२५-८-५०

आस्तिक आनन्द

यह श्री उपासकदशांग सूत्र है और आनन्द के जीवन का वृतान्त आपके सामने है।

आप सुन चुके हैं कि आनन्द ने प्रभु का प्रवचन सुना, उस पर विचार किया और उसका हृदय हर्ष से गद्गद हो गया। आनन्दमयी उस वाणी को सुनकर आनन्द का मन पुलकित हो उठा—तो, जीवन का वास्तविक स्वरूप उसके सम्मुख आकर खड़ा हो गया। उसके मन में पवित्र विचारों की चल-लहरियाँ प्रवाहित होने लगीं—तो, वे उसके ससीम हृदय में समा न सकीं। समा न सकीं—तो फूट कर बाहर बह चलीं। और उन्हीं चल--लहरियों में डूबता-उतराता आनन्द सरस वाणी में भगवान् से कहने लगा—

'भगवन्! आपकी यह वाणी, यह प्रवचन निर्ग्रन्थ की वाणी है।' और निर्ग्रन्थ का अर्थ है—गांठ-रहित। जिसका हृदय भी स्वच्छ और निर्मल हो और जिसकी वाणी भी स्वच्छ और निर्मल हो। जिसके जो भीतर है, वही बाहर भी हो। अक्सर देखने में आता है, लोग ऊपर से या वाणी में तो बहुत साफ-सुथरे होते हैं; मगर पेट में उनके विष की गाँठ पलती रहती है—तो, ऐसे व्यक्ति निर्ग्रन्थ नहीं हो सकते। तो, सच्चा निर्ग्रन्थ तो वही है जिसने भीतरी गाँठ को भी तोड़ दिया है। ऐसे निर्ग्रन्थों की वाणी सुनने वालों को निर्ग्रन्थ बना देती है। वह राग-द्वेष और विषय-वासना की गाँठ बड़ी दुर्भेद्य है, जिसने हमारे मन को उलझा रक्खा है, जिसने हमारी आत्मा को बाँध रक्खा है और मन को बाँध रक्खा है। एक चक्रवर्त्ती सोने के महलों में बैठा है और सूर्योदय से सूर्यास्त तक अपना झंडा लहराता है। लाखों मनुष्यों को बन्दरों की तरह नचाता है। किन्तु जब उसी सम्राट का मन वासनाओं का गुलाम होता है, इन्द्रियों का दास होता है तो वह कितना लाचार हो जाता है। कितना बेबस हो जाता है। तो, वह स्वतंत्र तो जनता के लिये है, अपने आपमें आज़ाद नहीं है!

सोचो—तो अपने आपमें सोचो। इन्द्रियों की भाषा में मत सोचो। स्वतंत्रता पर विचार करो; किन्तु आत्मा की भाषा में विचार करो। क्या यही स्वतंत्रता है चक्रवर्त्ती की?

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कहानी तो आपने सुनी ही है। वह चित्त मुनि के पास गया। वह चित्त मुनि, महान् साधक थे और उन्होंने बाहर और भीतर की गांठों को तोड़ दिया था। वह बाहर के बन्धनों से रहित थे और अन्दर के बंधनों से भी रहित! वह अपने जीवन में एक दिव्य ज्योति जगाने वाले थे। प्रकाश लेकर आये थे। उन चित्त मुनि के पास ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पहुँचा। उसने सोचा—यह मेरे पूर्व जन्म के भाई हैं। आज साधु हैं और भिक्षापात्र लेकर जगह-जगह माँगते फिरते हैं। मेरे भाई होकर और कई जन्मों के संबन्धी होकर भीख माँगते फिरें, यह मेरे लिये शोभाजनक नहीं है। यह सोच कर उसने उन महामुनि से कहा—आप महलों में चलिए, उन महलों में जिनके कलश धूप में चम-चम करते हैं। इसमें सोचने—विचारने की कोई बात नहीं है। आपको मालूम है, मैं चक्रवर्ती हूँ।

तो, चित्तमुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से उस समय जो वाणी कही, वह भगवान् महावीर की कृपा से हमें आज भी प्राप्त है। वह एक सन्त की वाणी थी, परन्तु वही तीर्थंकर की वाणी पर चढ़ी और फिर गणधरों की वाणी में उतरी और इस प्रकार निरन्तर वहती हुई वह हमारी परम्परा में आई है।

सामने चक्रवर्ती खड़ा है और वह महलों में चलने और भोग-विलास करने का आमन्त्रण दे रहा है। मैं सब प्रबन्ध

कर दूँगा। तब सन्त ने क्या कहा—सन्त ने कहा—

सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडंवियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

—उत्तराध्ययन. १३

मुनि ने कहा—राजन्! तुम राजसिंहासन पर बैठे हो, प्रजा का न्याय करने बैठे हो, तुमने दूध का दूध और पानी का पानी करने का अधिकार पाया है, किन्तु अपना भी न्याय करते हो या नहीं?

हमारे पास एक वकील आये। वह बैरिस्टर हैं। विकट और उलझे हुए मुकदमों को सुलझाते हैं और लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। उन्होंने उस समय जो मुकदमा जीता था, मेरे सामने उसका अच्छे ढंग से वर्णन किया जा रहा था। सुनते-सुनते मैंने उनसे कहा—वकील साहब! आप अपने मुवक्किलों की ही मिसलें देखते हैं, उनको ही जिताते हैं और उनमें ही कामयाब होते हैं। मगर मैं पूछता हूँ क्या आप अपने अंदर की मिसल भी कभी देखते हैं? आपने अब तक अनेक मुकदमे लड़ायें और अनेकों को जिताया भी—पर अपनी इस मिसल का भी कभी पन्ना पलटा है या नहीं? दूसरों की ही वकालत की है या कभी अपनी भी?

बड़ा विकट प्रश्न है! मगर यह प्रश्न केवल उन वकील साहब के ही सामने नहीं, हरेक के सामने है। मनुष्य दुनिया भर को अपने बंधन में भले ही बाँध ले, सब जगह अपनी

विजय-पताका भले ही फहरा ले, किन्तु अपने ही मन और तन पर उसका अपना कब्जा नहीं है। यह वह अनुभव भी करता है। कभी-कभी वह सोचता भी है कि मेरे मन पर मेरा अधिकार नहीं है; बल्कि मेरा मन ही उल्टा मेरे ऊपर कब्जा किये हुए है। मगर यह अनुभव करते और विचारते हुये भी मनुष्य विवश और लाचार है।

तो चित्त मुनि कहते हैं—तुम्हारे सामने जो गीत और नृत्य होते हैं, वे तुम्हें गीत और नृत्य मालूम होते होंगे, किन्तु मुझे तो ऐसा मालूम होता है, यह रोना है—विलाप है। और तुम्हारी जिंदगी पर सब रो रहे हैं—क्योंकि तुम्हारा पतन हो रहा है। आध्यात्मिक रूप से तुम पतन के गहरे गर्त्त में समाये जा रहे हो।

बड़े-बड़े सम्राटों को अपने चरणों में झुकाने वाले तथा देवताओं द्वारा सेवित चक्रवर्त्ती से मुनि ने सब कुछ साफ़-साफ़ कहा। तो चक्रवर्त्ती सम्राट ब्रह्मदत्त बोला—

> नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
> एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो॥
>
> —उत्तराध्ययन, १३

भगवन्! आपकी बात यथार्थ है। आपने जो कुछ कहा है, उसमें तनिक भी संदेह नहीं है, किन्तु मैं विवश हूँ। हाथी झील में पानी पीने जाता है और कभी-कभी झील के बीच कीचड़ में फँस जाता है। किनारा पास ही होता है और वह

चाहता भी है कि मैं किनारे पर पहुँच जाऊँ, किन्तु वह किनारे पर पहुँच नहीं पाता—और उसके प्राण उसी कीचड़ में समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार मैं भी कीचड़ में फँस गया हूँ—किनारा दिखाई दे रहा है, मगर किनारे पर पहुँच नहीं पाता।

और यह स्वतन्त्र पुरुष नहीं, परतन्त्र पुरुष की भाषा है। यह विवश और लाचार आदमी की भाषा है। वह वासनाओं के दल दल में फँस गया है और इतना गहरा फँस गया है कि सामने सत्यमार्ग के, जीवन के उद्धार के मार्ग के होते हुए भी वह उस तक पहुँच नहीं पाता है। वास्तव में आत्मा की दुर्बलता ने उसे ऐसा गिरा दिया है कि उसमें से निकलना उसके लिये बहुत ही कठिन बात होगई है।

इसीलिए मैंने कहा है कि जीवन वासनाओं में फँस कर इतना बर्बाद हो जाता है कि वह अनेक रूपों में स्वतन्त्र होकर भी स्वतंत्र नहीं रहता। ब्रह्मदत्त सम्राटों का भी सम्राट् है। चक्रवर्त्ती है, किन्तु आत्मा का सम्राट् वह नहीं है, मन का राजा नहीं है। उसमें यह शक्ति नहीं कि जब चाहे तब इन्द्रियों का उपयोग करे और जब न चाहे तब उपयोग न करे। जब चाहे तब मन से काम लें और जब न चाहे तब न लें। जब सुनने की आवश्यकता हो तो सुने और आवश्यकता न हो तो आवाज़ को ठुकरा दे।

आपने कितना सुना है। फिर भी वासनाओं को जीतने

की ओर आपका कदम नहीं उठता। और मैं चकित हूँ कि हमारी बहिनें, जो अबला कहलाती हैं, समाज में भी जिनको कोई खास स्थान नहीं दिया गया है तथा जो हजारों वर्षों से अंधकार में रह रही हैं, इस ओर आपसे भी आगे हैं। आज ही एक बहिन ने अपने दोनों हाथों की चार-चार उँगलियाँ दिखला कर अठाई की तपस्या अंगीकार की है। समाज ने उसे बोलने की इजाजत नहीं दी है। आपकी मर्यादा ऐसी है कि आपके सामने वह आवाज़ नहीं निकाल सकती। इन परिस्थितियों में बहिनें रह रहीं हैं, फिर भी कुछ न कुछ कर रहीं हैं। और आप, अगर आपके सामने उपवास का सवाल आता है तो कितना आगा-पीछा सोचते हैं। दया का प्रश्न आता है (जिसमें भोजन भी मीठा मिलता है) तो भी आप लड़खड़ाने लगते हैं और सोचते हैं कि दया भी चले और दुकान भी चले तो ठीक है।

बड़ी कठिनाई है! शरीर की गुलामी ने मनुष्य को कितना विवश कर दिया है! शरीर की आवश्यकता को मनुष्य महसूस करता है, उसे वस्त्र या अलंकार की आवश्यकता होती है तो आज्ञा मिलने भर की देर है, उसकी पूर्ति में देर नहीं लगती। देर लगी तो मन में कुढ़ता रहता है। उसकी पूर्ति के लिए चाहे सो बर्बाद कर देगा। किन्तु अपनी आत्मा की आवाज को वह सुनी अनसुनी कर देता है।

एक भाई कहते हैं—चौदस आ रही है। मैं ने कहा—

बहुत-सी आ चुकी हैं। इस जीवन में कितनी चौदसें आई और चली गईं। कोई हिसाब है? जिसके अन्तःकरण में चौदस की भावना होगी, जो वासनाओं को ठुकराने के लिए तैयार होगा, उसके लिए उसी दिन चौदस है। मैं तो कहता हूँ कि जीवन में जो भी क्षण मिलता है, बड़ा मूल्यवान् है और उस क्षण को भी व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए। ऐसी भी आत्माएँ हैं जो चौदस का इन्तजार नहीं करतीं। वे जिस समय जागीं, उसी समय उठ खड़ी हुईं। भगवान ने गौतम को कितने गंभीर शब्दों में चेतावनी दी है—

समयं गोयम ! मा पमायए।

—उत्तराध्ययन

अर्थात्—गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद के अधीन न हो, एक भी क्षण व्यर्थ न गँवा।

कई भाई कहते हैं कि दया और उपवास के लिए प्रेरणा दीजिये। तो, उस समय मैं सोचता हूँ—काम तो इनकी भावना के स्वयं जागने पर ही चलेगा। किसी की प्रेरणा से, किसी के दबाव में आकर धर्मक्रिया करने की अपेक्षा अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ही धर्मक्रिया करने से अधिक रस आता है? अन्तःकरण में वासनाओं को जीतने की लौ लग जायगी तो ऐसा न होगा कि चौदस को जागे और पूर्णिमा को सो गए।

सिद्धान्त की बात यह है कि आपको शरीर, इन्द्रियाँ

और मन की बात सुनना बंद करना पड़ेगा, किन्तु यह तभी होगा जब आत्मा में जागृति पैदा होगी। अतएव अपनी आत्मा को जगाओगे तो आपका कल्याण होगा।

जब तक आत्मा जागृत नहीं होती, दीनता छाई रहती है। देखो न, चक्रवर्त्ती कैसी भाषा बोल रहा है। वह छह खंड का राजा है। जिसके पास चौरासी लाख हाथी, इतने ही घोड़े, इतने ही रथ और ६६ करोड़ पैदल हैं। बहुत विशाल साम्राज्य है—जिसका। इतना विशाल कि सूर्योदय और सूर्यास्त उसके राज्य में होता है। देवता भी उसके सामने हाथ बाँध कर खड़े रहते हैं। किन्तु जब आत्मा को सुधारने की बात आई तो गिड़गिड़ा कर कहता है—मैं गज-राज हूँ और मैं कीचड़ में फँस गया हूँ। किनारे तक नहीं पहुँच सकता। धत्तेरे साम्राज्य को! धत्तेरे चक्रवर्त्तित्व को।

यह भाषा स्वतन्त्र आत्मा की भाषा नहीं है। यह निर्ग्रंथ की भाषा नहीं है, बल्कि गुलामों की भाषा है।

तो आनन्द कहता है—'भगवन्! मैं इस निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखता हूँ। मेरा रोम-रोम इस वाणी पर श्रद्धा की गहरी भावना रखता है। मैं इस पर प्रतीति करता हूँ। रुचि रखता हूँ। जो कुछ आपने कहा है, सब सत्य है। मैं इस प्रवचन को शिरोधार्य करता हूँ।

अपने उपर्युक्त कथन में आनन्द लगभग एकार्थक शब्दों का प्रयोग कर रहा है। आप कह सकते हैं कि एक ही वाक्य

बोलने से काम चल सकता था। फिर बार-बार वही बात क्यों बोली जा रही है? किन्तु जब मेघ गरजता है और गड़-गड़ाता है तो मोर आवाज़ पर आवाज़ लगाता जाता है और सारे वन को गुंजा देता है। वह बार-बार क्यों कूकता है? उससे कहो—अरे मोर! क्या तू पागल हो गया है? क्यों बार-बार कूकता है? इससे तेरा क्या मतलब है?

मोर क्या उत्तर देगा? उसमें सामर्थ्य हो तो यही कहे—मेरे यहाँ हिसाब लगाने का धंधा नहीं है। मैं बहीखाता करने नहीं बैठा हूँ। मुझे पुनरुक्ति की परवाह नही है। यह तो मेरे मन की लहर है। मेघ गरजता है और मैं कूकता हूँ। कूके बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

तो आनन्द ने प्रभु की वाणी सुनी है और हृदय श्रद्धा और प्रेम से भर गया है। तो वही श्रद्धा और प्रीति उससे पुलक रही है। वह जनता को सुनाने के लिए नहीं बार-बार बोल रहा है। उसकी भावना का प्रवाह अपने आप बाहर निकल रहा है। उसका आनन्द भीतर नहीं समा रहा है, इसलिए वाणी के रूप में उमड़-उमड़ कर बाहर आ रहा है। यहाँ एक बार या दो बार का प्रश्न ही नहीं है।

तो आत्मा की भाषा में तो आनन्द सरीखे भावनामय साधक ही इतना गहरा आनन्द अनुभव कर सकते हैं। जिसके हृदय में भावना की धारा ही नहीं बही; वह इस अमृत का आस्वादन नहीं कर सकता। इसके लिए बड़े भारी

वैराग्य की आवश्यकता है और जैनधर्म सबसे पहले यही प्रेरणा देने के लिए आया है कि तूने अब तक जो पाया है, वह मिथ्या और निस्सार है और उसने तेरे जीवन को बिगाड़ा ही है—सुधारा नहीं है। अब नींद से जाग और सँभल। और उस वस्तु को पाने का प्रयत्न कर जिससे न केवल यही जीवन, वरन् भविष्य का जीवन भी पावन और उज्ज्वल बन जाए।

बड़े-बड़े सम्राट् लक्ष्मी के दास बने रहे, उनके सामने लक्ष्मी की झंकार होती रही और वे अभिमान में फूले न समाये। जैनधर्म ने उनसे कहा—तुम अहंकार करते हो? शरीर पर कंकर-पत्थर लाद लिये हैं और सोचते हो कि मैं बड़ा हूँ।

समाज में कोई बड़ा आदमी गिना जाता है। वह अपने घर में या समाज में किसी से कोई कार्य करने को कहता है। जब उसकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं होता तो उसे मलाल होता है और वह कहता है—'जानते हो, मैं कौन हूँ ?'

'हाँ-हाँ जानते हैं तुझे! और जैनधर्म कहता है—तुझे अपनी इस जिंदगी पर अभिमान है, पर जानता है, पिछली जिंदगियों में तू क्या-क्या रहा है। मैं तेरी पिछली जिंदगियों को भी जानता हूँ। कभी तू जूठन के टुकड़ों को भी तरसता रहा है और आज इतना अभिमान है। कहता है कि मैं बड़ा आदमी हूँ।

एक बड़े आचार्य ने कहा है। हम जानते हैं, तुम बड़े आदमी हो। मगर तुम्हारी वह जिंदगी भी रही है कि तुम अपने साथियों के साथ बेर के रूप में थे। बेर पक गया और माली ने तोड़ लिया। डलिया में डाल कर बाजार में ले गया। ग्राहक आने लगे। एक आया और दूसरा आया। एक ने कहा—बेर अच्छे नहीं हैं। देखूँ, नमूना। फिर उस बेर को मुँह में डाला, दाँतों से कुचला और ख़राब मालूम हुआ तो थू-थू करके थूक दिया। और बोला—मेरा तो मुँह ख़राब हो गया।

जैनधर्म कहता है—ऐ बड़े आदमी! तुम्हारी यह कीमत थी एक समय। और आज कहते हो—जानते हो, 'मैं कौन हूँ?' तो मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ कि एक समय एक कानी कौड़ी की भी तो कीमत नहीं थी तुम्हारी।

कभी राजकुमार हुए और बड़ा रूप पाया। इतना अहंकार आ गया कि ज़मीन पर पैर नहीं टिकते। ज़रा-सा हल्ला मचा, थोड़ी-सी गड़बड़ी हुई, तो गरज उठे—जानते हो मैं कौन हूँ?

यहाँ जैनधर्म कहता है—जी हाँ, जानते हैं। आप वही हैं जो एक दिन सड़ती हुई गंदी नाली में लट के रूप में किलबिला रहे थे और मल-मूत्र में स्नान कर रहे थे। हम तो जानते हैं आपको, मगर आप ही अपने को नहीं जानते।

कभी-कभी लक्ष्मी-पुत्रों में झगड़ा हो जाता है तो कहते

हैं—जगह की तंगी है, मैं कहाँ उठूँ-बैठूँ ? और वे इतने पैर फैलाना चाहते हैं कि मानों कुम्भकर्ण के शरीर से भी उनका शरीर बड़ा हो।

रेलवे में सफ़र करने वालों की मनोवृत्ति को आप मुझसे भी ज्यादा समझ सकते हैं। प्रायः प्रत्येक यात्री यही चाहता है कि दूसरा कोई हमारे डिब्बे में न घुसने पावे। किसी को अत्यावश्यक कार्य है या बीमारी का इलाज कराने जा रहा है, उसको भी लोग यही कहेंगे—जगह नहीं है। दिखता नहीं, क्या अन्धे हो ?

जैनदर्शन उनसे कहता है—ठीक है भाई, आज कहते हो कि जगह नहीं है। और उस दिन क्या हालत थी जब सुई की नौंक बराबर निगोद में अनन्त-अनन्त साथियों के साथ गुमसुम पड़े थे ? वहाँ जगह थी और यहाँ जगह नही है ? वहाँ कितनी जगह मिली थी आपको !

तो जो मनुष्य अपनी पुरानी अवस्था को भूल जाता है और अपने वर्त्तमान जीवन को ही सब-कुछ समझ लेता है, वह नास्तिक है—लेकिन इसके विपरीत जो अपने पूर्वापर जीवन का ख्याल रखता है वह आस्तिक है। आज लोगों ने आस्तिक-नास्तिक की व्याख्या बदल दी है ! कहते हैं, जो वेद-पुराण को न माने वह नास्तिक है ! किसी ने कह दिया—जैन नास्तिक हैं और किसी ने कह दिया—वैष्णव नास्तिक हैं ! किन्तु वास्तव में नास्तिक वही है जो—

वर्त्तमान दृष्टिपरो हि नास्तिकः ।

जिसकी दृष्टि वर्त्तमान में ही अटक गई है ! जो मौजूदा हालत में ही अटक गया है, धन-वैभव में ही अटक गया है; जिसे अतीत का खयाल नहीं और अनागत की चिन्ता नहीं, वही नास्तिक है । मैं कहाँ से आया हूँ और जब यह शरीर छूट जायगा तो कहाँ जाऊँगा, यह नहीं सोचता है—जिसकी दृष्टि एकान्त वर्त्तमान पर ही है । कभी नरक में घूमता रहा है, कभी कीड़ा बन कर किलबिलाता रहा है और कभी पक्षी बन कर घौंसले में बसेरा करता रहा है, किन्तु उस ओर दृष्टि नहीं जाती है और वर्त्तमान में मिली प्रतिष्ठा और सम्पत्ति को ही देखता है ! यह नहीं देखता कि आज सब-कुछ है, कल क्या होगा !

मुंद गई अँखियां तब लाखन कौन काम की !

बड़े-बड़े चक्रवर्ती आये और सिंहासन पर बैठे, किन्तु जब प्राण निकले तो क्या हुआ ? जिसे एक मक्खी भी बर्दाश्त नहीं होती थी और हवा का झौंका भी सहन नहीं होता था, वही जलती हुई ज्वालाओं में झौंक दिया गया और जल कर खाक हो गया ! फिर बाकी क्या रह गया ?

बड़े-बड़े धनीमानी माया को छाती से लगाये रहते हैं । एक कौड़ी की ममता नहीं छोड़ सकते । चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय, इस कहावत को अपना जीवन-सिद्धान्त बना कर चलते हैं, पैसे-पैसे के लिये प्राण देने को तैयार रहते हैं,

परन्तु श्वाँस निकल गई और दिल की धड़कन बन्द हो गई तो क्या सम्बन्ध रह गया उस सम्पत्ति से ?

मतलब यही है कि जिसकी दृष्टि केवल वर्त्तमान तक ही सीमित है, जो भूत से शिक्षा लेकर भविष्य को कल्याणमय बनाने का विचार नहीं करता, वास्तव में वही नास्तिक है।

भारत में एक वृहस्पति ऋषि हो चुके हैं—उनका दर्शन चार्वाकदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। एक दिन उन्हें एक आदमी मिला। दुबला-पतला था—वहाँ उन्होंने उससे पूछा—इतने दुबले क्यों हो ? उसने कहा—क्या बतलाएँ महाराज ! ऐसी ही हालत चल रही है। पैसा नहीं है।

ऋषि बोले—तुम मूर्ख मालूम होते हो !

आदमी ने पूछा—कैसे महाराज ?

ऋषि—पैसों की दुनियाँ में क्या कमी है ? किसी सेठ से कर्ज ले लो और घी पिओ और तगड़े बन जाओ।

आदमी—कर्ज ले लेंगे तो चुकाना पड़ेगा।

ऋषि—चुकाने की क्या बात है ? तगड़े हो ही जाओगे, एक मजबूत लट्ठ और खरीद लेना ! कर्ज माँगने आए तो दिखा देना लट्ठ, ताकि दूसरी बार वह माँगने भी न आए।

आदमी—मौजूदा जिंदगी का फैसला तो कर लिया, शायद इस तरह यह जिंदगी आराम से निकल जाय और पकड़ में न आऊँ; मगर आगे चल कर क्या होगा ? अगले जन्म में लेने के देने पड़ जायँगे ?

ऋषि बोले—इस मूर्खता की बदौलत तो दुखी हो रहे हो! यही कायरता तो तुम्हारी दीनता और दरिद्रता का कारण है। इसे छोड़ो। देखो—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

मूर्ख, एक दिन तेरा शरीर जलाकर भस्म कर दिया जायगा, तब कौन तो लेने वाला और कौन देने वाला रहेगा?

इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक का फ़ैसला वर्त्तमान में ही है। कहाँ से आया है और कहाँ जायगा, यह विचार ही जिसे नहीं है और जो अपने वर्त्तमान अस्तित्व पर ही भरोसा करके बैठा है, वह नास्तिक है।

जैन-धर्म तो वर्त्तमान के विषय में भी कहता है कि तुझे जो साधन मिले हैं, उनका अपने लिये और दूसरों के लिए उपयोग कर। अपने आपको समेट कर मत बैठ। समेट कर बैठेगा तो तेरा सामाजिक जीवन बर्बाद हो जायगा।

आनन्द आज वैभव का स्वामी है, किन्तु वह अतीत को भूला नहीं है। अतीत में उसकी स्थिति कैसी-कैसी रही है, यह बात वह भली-भाँति जानता है। भूतकाल के दृश्यों को वह सामने रखता है। वैभव की असारता को समझता है। अतएव वह वर्त्तमान में ही नहीं भूला है। इसीलिये वह वर्त्तमान में भविष्य का निर्माण करने के लिये उद्यत है।

अतीत में जो रोटी बनाई है, उसका इस्तेमाल अभी हो रहा है। वह अभी पेट में जाकर समाप्त हो रही है। तो भविष्य की रोटी के लिये क्या व्यवस्था कर रहे हो? याद रक्खो, दूसरे के हाथ में जो रोटी पहुँच रही है, वह आगे के लिए बोई जा रही है। जो बोया था वह पा रहे हो और जो बो रहे हो वह पाओगे। तुम वर्तमान की चिन्ता करते हो, यह वृथा चिन्ता है। वर्त्तमान तो अतीत के फल के अनुरूप होगा ही; चिन्ता करनी है, भविष्य की। आज तो बीत रहा है, भविष्य सामने आ रहा है। उस विराट भविष्य की ही चिन्ता करो। उसके लिये व्यवस्था करो। सोचो—आज सब-कुछ पाया है तो आगे भी कुछ ले जाना है या नहीं?

जिसमें इस प्रकार की विचारशीलता होगी, उसमें न्याय-वृत्ति पनपेगी। इसके विपरीत, जो सोचता है कि आगे का क्या पता है? जो सबका होगा वही मेरा भी हो जायगा; परलोक किसने देखा है! उसके अन्दर न्यायवृत्ति की भावनायें नहीं पनप सकतीं। उसमें धर्म के संस्कारों की वृत्ति जागृत नहीं हो पाती। ऐसे लोग रावण बन सकते हैं, राम नहीं बन सकते।

रावण के सामने सुन्दरी आई तो उसने सोचा कि इसे उड़ाना है। संसार में जो सुन्दर चीज है, वह मेरी है। उसने नहीं देखा कि मरने के बाद क्या होगा? उसने सोचा—मेरे पास तलवार है और लट्ठ है और इनके बल पर मैं इसे छीन

कर ले जा सकता हूँ। अपने पास रख सकता हूँ। राम को, जो दुर्बल है, इस सुन्दरी को अपने पास रखने का अधिकार नहीं है। उसने लट्ठ के घमंड में भूत और भविष्य को नहीं देखा। उसने वर्त्तमान को ही देखा और चमड़ी के रंग में भूल गया!

तो, इस प्रकार भूलने वाला कोई भी व्यक्ति रावण ही बन सकता है, राम नहीं बन सकता। उसे अपने जीवन के उद्देश्य का पता नहीं चल सकता। भगवान् का भक्त ही आगा-पीछा सोचेगा—ऐसा व्यक्ति नहीं सोच सकता।

आनन्द भगवान् का भक्त बन गया है और वह कहता है—भंते! मैं आपके प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ।

आपको भी भगवान् के प्रवचन पर श्रद्धा है या नहीं? उपवास अच्छा है या नहीं? दूसरों के लिए अच्छा है! और जब तक हम न करें तब तक हमारे लिए भी अच्छा है। और जब भूख लगे तब? तब की बात न्यारी है। तो, यह श्रद्धा की कसौटी नहीं है। उपवास के समय भी उपवास अच्छा है और पारणा करते समय भी अच्छा है, तो यह है श्रद्धा की कसौटी।

दान देना अच्छा है—किन्तु कब तक? जब तक माँगने वाला नहीं आया और तिजोरी खोलने को चाबी नहीं उठानी पड़ी! किन्तु जिनके अन्तःकरण में भगवान् की वाणी के प्रति श्रद्धा जाग गई है; उनके अन्तःकरण में दान देने से पहले

देते समय और देने के पश्चात् भी हर्ष की लहर पैदा होगी। वह मम्मण सेठ की तरह हाय-हाय नहीं करेगा। वह तो भगवान् की वाणी पर चलने का प्रयत्न करेगा। वह सत्कर्म करने से पहले, सत्कर्म करते समय और बाद में भी उसे अच्छा समझता रहेगा। वह तीनों कालों में से किसी को भी गड़बड़ नहीं होने देगा। जैनधर्म यहीं जीवन का खात्मा नहीं करता, वह जीवन के तीनों कालों को सुन्दर बनाने की प्रेरणा देता है।

इसीलिए आनन्द कहता है—भगवन्! मैं आपकी वाणी में श्रद्धा रखता हूँ। जिन महान् आत्माओं को महावीर की वाणी मिली है, कैसे संभव है कि वे पीछे रह जाँए। वे तो छलांग लगाने वाले होंगे। जब समर भूमि में मारू बाजे बजते हैं, युद्ध का बिगुल बजता है, तो सच्चा सिपाही कोठे में बन्द नहीं रह सकता। वह सच्चा सिपाही, जिसके अन्दर वीरता बोल रही है, जो अपने देश के सन्मान और प्रतिष्ठा के लिए अपने प्राण हथेली पर रखता है, वह छिप कर नहीं बैठ सकता। वह तो सबसे आगे होगा। हाँ, जिसके जीवन में पूर्ण भावनाएँ नहीं हैं, वह भले ही कहीं जाकर छिप जाय।

जब प्रभु की वाणी का बाजा बजे, वासनाओं के साथ युद्ध करने का बाजा बजे, तो कोई भी भावनाशील साधक हाथ पर हाथ रख कर बैठा नहीं रह सकता। तो, भगवान्

की वाणी का नगाड़ा सुनकर हज़ारों साधक उनकी सेवा में तत्पर हो गए। गौतम जैसे साधक भी पहुँचे और आनन्द जैसे साधक भी पहुँचे। उन्होंने अपना जीवन आत्मकल्याण के लिए अर्पण कर दिया, विश्व के कल्याण में अपना कल्याण माना। उन्होंने थैलियों के मुँह को भी नहीं देखा और वासनाओं को भी नहीं देखा। तो वे वासनाओं से लड़ने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने उसमें रस पाया और उनमें नव-चेतना पैदा हो गई। साधना के क्षेत्र में आने के बाद शरीर की पूजा नहीं करनी है, शरीर का उपयोग-मात्र करना है; यह तथ्य उन्होंने हृदयंगम कर लिया।

हमारे प्राचीन कथासाहित्य में एक कहानी आई है—

एक पाठशाला में दो सेठ के लड़के और एक राजा का लड़का—तीनों साथ-साथ पढ़ते थे। आम तौर पर बड़ों की बड़ों से मित्रता हो ही जाती है। बड़ों की ग़रीबों से मित्रता हो तो चार चाँद लग जाते हैं, परन्तु ऐसे प्रसंग बिरले ही होते हैं।

तो सेठ के लड़के भी बड़े और राजा का लड़का भी बड़ा। तीनों में गहरी मित्रता थी। किन्तु जब अध्ययन समाप्त हुआ तो सेठ के दोनों लड़कों ने राजा के लड़के से किनारा करना शुरू किया। उसके साथ मिलना-जुलना कम कर दिया और बातचीत करना भी कम कर दिया। राजा के लड़के ने सोचा—यह क्या बात है? ये बच-बच कर क्यों रहते हैं?

एक दिन तीनों मिल गए। राज-पुत्र ने पूछा—भैया, क्या कारण है कि आप मुझसे आजकल अलग-से रहने लगे हैं। क्या अब हम लोग मित्र नहीं रहे हैं?

सेठ के लड़के बोले—आपका मैत्रीभाव आश्चर्य है, परन्तु आप में और हम में अन्तर है। आप राजकुमार हैं और हम वणिक हैं। हम भविष्य को देखकर चलने वाले ठहरे! वह वणिक् ही क्या, जो मौजूदा हालत को ही देखे और भविष्य को न देखे। अध्ययन समाप्त होते ही हमें दूकान सँभालनी है। आप राजा बनेंगे और हम आपकी प्रजा होंगे, आपके फ़रमान निकलेंगे और हम सिर झुका कर उन्हें तस्लीम करेंगे। तो, हमारी-तुम्हारी यह दोस्ती अब कितने दिन और चल सकती है—यह सोचकर पहले से ही हम अपना रास्ता अलग बना रहे हैं।

राजकुमार ने कहा—भली विचारी तुमने! अजी, वह और कोई होगा जो बदल जाएगा। मैं राजा बनूँगा तो राजा की जगह बनूँगा; हमारी मैत्री में क्यों अन्तर आ जायगा? तुम मित्र रहोगे तो तुम भी राजा बनोगे।

सेठ के दोनों लड़कों ने कहा—ऐसी बात है? तो कभी ज़रूरत पड़ जाय तो एक बार हमें भी राजा बना देना।

राजकुमार ने कहा—मैं वचन देता हूँ कि एक बार तुमको भी राजा बना दूँगा।

कुछ समय के पश्चात् राजकुमार राजा बन गया और

सेठ के लड़कों ने दूकान की गद्दियाँ सँभाली। एक ने व्यापार किया और लड़खड़ा गया। घाटा पड़ गया। दूकान में पूँजी कम रह गई और देना ज़्यादा हो गया। कठिनाई में पड़ गया। माँगने वाले आने लगे। उसने सोचा—कोई बात नहीं है। जब देना होता है तो लेने वाले हज़ारों हो जाते हैं, किन्तु जब लेना होता है तो देने को कोई नहीं आता।

समुद्र में ज़्यादा वर्षा होती है और जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ नहीं होती! सेठ के लड़के ने इधर-उधर हाथ मारे, किन्तु कहीं सफलता नहीं मिली। उसे पूँजी न मिल सकी। तब उस राजा की याद आई। उसने सोचा—राजा ने वचन दिया था तो उससे लाभ उठाने का यही उपयुक्त अवसर है। वह भागा-भागा राजा के पास गया। राजा के समक्ष अपनी स्थिति निवेदन की। राजा ने कहा—आप जो सहायता चाहें, माँग सकते हैं।

सेठ के लड़के ने कहा—आपने राजा बनाने का वचन दिया था!

राजा को अपने वचन याद थे; मगर यह सुनकर उसके पैर लड़खड़ा गये। फिर भी उसने सँभल कर कहा—अच्छा, एक पहर के लिए राजा बनाता हूँ।

राजा, सेठ को राजा बनाने का आदेश देकर अपने महल में चला गया और सेठ कूद कर सिंहासन पर बैठ गया।

राजा के मंत्रियों ने कहा—अभिषेक आदि की विधि तो हो जाने दीजिए और राजा के योग्य वस्त्र-आभरण भी धारण कर लीजिए ! तब यह सिंहासन अधिक सुशोभित होगा ।

सेठ राजा बोला—मुकुट और वस्त्राभरण की क्या आवश्यकता है ? हम तो राजा बन चुके ।

और सिंहासन पर आसीन होकर उसने आदेश देना आरम्भ कर दिया—इतने रुपये मेरे घर भेज दो ! लेने वालों से कहला दिया—जिनको लेना हो अभी ले लो ! जितने भिखारी और साधारण आदमी आये, तो उसने किसी को कुछ और किसी को कुछ बाँट दिया । नौकरों की तनख्वाह दुगनी और तिगुनी कर दी । घोषणा करवा दी—मैं राजा बन गया हूँ और जिसे जो चाहिए सो ले लें । सारे नगर में हलचल मच गई ।

इस प्रकार एक पहर समाप्त होने से पहले ही वह सिंहासन से नीचे उतर गया और बोला—हम अपने घर जाएँगे । जय-जयकार के साथ वह घर चला गया और आनन्द में रहने लगा ।

एक पहर में ही उसने राजा का खजाना खाली कर दिया । वह करोड़ों का माल अपने साथ ले गया !

कालान्तर में दूसरे सेठ को भी घाटा लगा । वह भी राजा के पास पहुँचा और राजा ने अपने वचन के अनुसार

उसे भी एक पहर का राजा बना दिया। वह राजमहल में पहुँच कर सोचने लगा—राजा बनना है तो शान के साथ ही बनना चाहिए। रौब के साथ सिंहासन पर बैठना चाहिए। उसने उबटन, स्नान आदि कराने के लिए नाई को बुलवाया। जब हजामत, उबटन और स्नान आदि से निवृत्त हो गया तो सुन्दर से सुन्दर पोशाकें मँगवाई। पोशाकों का ढेर हो गया तो सोच-विचार में पड़ गया कि कौन सी पोशाक पहनूँ और कौन-सी न पहनूँ। यह ठीक है ? नहीं यह रही है। और यह कैसी रहेगी ? अच्छी तो है, मगर यह इससे भी अच्छी है। किन्तु यह ? यह भी ठीक है। इस प्रकार पोशाक का चुनाव करने में ही बहुत सा समय निकल गया। आखिर एक पोशाक पहन कर और सजकर ज्यों ही वह सिंहासन पर बैठा, मंत्री ने घंटी बजाई और सूचना दी कि एक पहर का समय पूर्ण हो चुका है। अब आप यह पोशाक उतार दीजिए।

राजा बोला—अरे भाई; मैं तो अभी बैठा हूँ। अरे, मैं तो अभी कुछ भी नहीं कर सका।

मंत्री ने कहा—यह तो पहले सोचने की बात थी। आप तो स्नान करने और सजने में ही रह गए। वेषभूषा से ही चिपट गए। आपका साथी तो चट उछल कर सिंहासन पर सवार हो गया था। उसने क्षण भर का भी विलम्ब नहीं किया था।

इसी बीच जो माँगने वाले आये थे, इसने नौकरों को आदेश दिया कि इन्हें जूते लगाओ। क्योंकि माँगने वालों को देने में उसने अपनी इज्जत की हतक समझी। जो भिखारी आये, उनसे कहा—भागो सामने से। मैं मौज करने के लिए राजा बना हूँ, तुम्हारे लिए राजा नहीं बना हूँ।

इन सब कारणों से जब वह वापिस लौटा तो उसके जूते ही पड़ गये! लोगों ने चारों तरफ से उसे घेर लिया। कहा-लाओ, क्या लाये हो खजाने से? पहर भर के राजा बने थे तो क्या किया इस बीच में?

तो, कहानी तो खत्म हो गई, परन्तु उसके आशय पर आपको ध्यान देना है। आप मनुष्य बने तो एक तरह से राजा ही बने हैं। चौरासी लक्ष योनियों में मनुष्य ही राजा है। मगर यह राजा की पदवी अनन्त काल के लिए नहीं मिली है। पहर भर के लिए—थोड़े समय के लिये ही आपको मिली है। थोड़ा ही समय आपके पास है। जो कुछ करना है, करलो और ढील मत करो। समय चुटकियों में निकल जायगा और जब समय निकल जायगा तो फिर कुछ नहीं कर पाओगे। फिर हाथ मल-मल कर पछताना ही शेष रह जायगा। इस शरीर को पाकर माया और लोभ में नहीं पड़ना चाहिए। जो अवसर मिला है, जीवन बनाने के लिये, तपस्या करने के लिये और सेवा करने के लिए। इसे सिंगार करने और रौब गाँठने में ही मत गँवा दो!

स्मरण रक्खो, यद्यपि समय थोड़ा है, किन्तु मूल्य इसका बहुत है। इस थोड़े से समय में ही अपने अनन्त-अनन्त काल को सुधार सकते हो! आनन्द को भगवान् महावीर ने वह चीज बतलाई कि जरा-सी जिंदगी में वह सदा के लिये आनन्द का भागी हो सके! वही चीज आपके सामने प्रस्तुत है। सच्चे आस्तिक बन कर आनन्द के चरणचिह्नों पर चलोगे तो आनन्द पाओगे।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२६-८-५०

इच्छायोग-'जहासुहं'

यह श्रीउपासकदशांग सूत्र है और आनन्द का वर्णन आपके सामने चल रहा है।

आनन्द, भगवान् की वाणी श्रवण करने के पश्चात् अपने जीवन की भूमिका निश्चित करने के लिये कहने लगा :—

भगवन् ! आपके चरणों में कई सेठ, सेनापति, श्रावक आदि साधकों ने मुनिदीक्षा धारण की है और वे आपकी सेवा कर रहे हैं; किन्तु मेरी इतनी ही भूमिका है कि मैं श्रावक के बारह व्रत ही ग्रहण करूँ।

आनन्द के इस आत्मनिवेदन पर भगवान् ने उत्तर दिया ?—

जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

हे देवानुप्रिय ! अर्थात् हे देवताओं के वल्लभ ! 'जहासुहं' जो तुम्हारी आत्मा को सुख दे, जो कल्याण का मार्ग समझ में आया हो और जिसमें तुम्हें सुख मिले तुम वैसा ही करो; किन्तु धर्म के काम में प्रतिबन्ध मत करो।

सम्पूर्ण आगम-साहित्य में, जहाँ कहीं हम पढ़ते हैं, भगवान् ने प्रत्येक साधक से यही बात कही है।

जब भी कोई साधक भगवान् के चरणों में पहुँचा और उसने किसी व्रत, नियम या प्रतिज्ञा लेने की भावना प्रकट की तो भगवान् ने उससे यह नहीं कहा कि—'अरे, यह क्या कर रहा है ? यह तो कुछ भी नहीं है। कुछ और अधिक कर ! समस्त आगमसाहित्य को देख जाने पर भी आपको कहीं भी यह नहीं दीख पड़ेगा कि किसी प्रकार की कोई खींचतान की गई हो, साधक की इच्छा में दखल दिया गया हो या उसमें कुछ परिवर्तन किया गया हो ! सब जगह भगवान की ओर से एक ही उत्तर है—और वह उत्तर वही है, जो इस समय आनन्द को दिया गया है कि—

'हे देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे, करो। मगर धर्म-कार्य में प्रतिबन्ध मत करो।' तो इस छोटे से वाक्य पर अगर हम विचार करें तो जैनधर्म का हृदय, जैनधर्म का प्राण या आत्मा स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जायेगा। और उसका इच्छानु-प्रधान रूप उसमें स्पष्ट रूप से लक्षित होगा। साधक की भूमिका सहज भाव में कितनी तैयार हुई है, वह वाणी सुनने

के पश्चात् अपने आप किस भूमिका पर आया है, उसके अन्तरंग में किस चीज का उल्लास उत्पन्न हुआ है, इसी चीज को जैनधर्म महत्त्वपूर्ण मानता है। और इसी लिए भगवान् कहते हैं—'जहासुहं'—जैसे सुख उपजे, वैसा करो। किन्तु 'मा पडिबंधं करेह'–अर्थात् तुमने जो सोचा है, तुम्हारी आत्मा अपने आप जिस भूमिका पर पहुँची है, उसे करने में विलम्ब मत करो।

इसका अर्थ यह है कि जैनधर्म के मूल में खींचतान नहीं है; बलात्कार नहीं है, दबाव नहीं है, आग्रह भी नहीं है, किसी प्रकार का प्रलोभन भी नहीं है। जैनधर्म संघर्ष का धर्म नहीं है। वह धर्म के लिए भी जबर्दस्ती नहीं करता। वह धर्मक्रिया के लिए भी सहज भाव का, स्वतः स्फूर्त्त-प्रेरणा का अनुमोदन करता है। अपने चित्त को और अपनी योग्यता को परख लेने के बाद यदि कोई व्यक्ति श्रावक की भूमिका में आता है तो भी ठीक है और यदि इससे भी बढ़ कर साधु की भूमिका में आता है तो भी ठीक है। और इन दोनों के अतिरिक्त यदि सिर्फ सम्यग्दृष्टि की भूमिका में ही आया तो भी ठीक है।

प्रत्येक भूमिका में जैनधर्म साधक का स्वागत करता है। वह महान् क्रान्ति और इन्कलाब की देन है कि साधक अग्रसर होकर किसी भी भूमिका में आ जाय।

तो आप किसी भी आगम का पारायण कर जाइए, सर्वत्र

एक ही बात देखने को मिलेगी। भगवान् के पास छोटे बच्चे आये हैं और उन्होंने किसी साधना को ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की है, तब भी भगवान् ने 'जहासुहं' कहा है और बड़े-बड़े साधक आये हैं, तब भी यही कहा है। और ऐसा कहते समय भगवान् ने साधक की अवस्था को कोई महत्व नहीं दिया है—यही कारण है, जो किसी वृद्ध से भी भगवान् ने यह नहीं कहा कि—'तुम बुड्ढे हुए हो, मगर अभी तक भी तुम्हारी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुई हैं—क्यों वासनाओं की ज़िंदगी में भटक रहे हो। छोड़ो न इन झंझटों को।'

मगर हमारे इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि भगवान् इस आशय का कभी प्रवचन ही नहीं करते थे; वासनाओं के त्याग का उपदेश ही नहीं देते थे। करते थे, पर इस सम्बन्ध में उनका उपदेश सामूहिक रूप में ही होता था। किसी व्यक्ति-विशेष को लक्ष्य करके उस पर दबाव नहीं डालते थे। भगवान् भोग के अवगुण और त्याग के गुण बतलाते थे, असंयम से होने वाले पतन और संयम से होने वाले उत्थान का मार्मिक और सारयुक्त शब्दों में चित्रण करते थे और दुनिया की झंझटों को त्यागने की बात भी कहते थे; किन्तु वह वस्तु स्वरूप का यथार्थ निदर्शन होता था। व्यक्तिगत दबाव या जबर्दस्ती या प्रलोभन की पद्धति भगवान् ने कभी ग्रहण नहीं की। श्रमण, श्रावक और सम्यग्दृष्टि की भूमिकाएँ और मर्यादाएँ उनके उपदेश में

प्रतिबिम्बित होती थीं, किन्तु अमुक भूमिका को स्वीकार करो। यह भगवान् ने कभी किसी से नहीं कहा। भगवान् की वाणी श्रवण करने के अनन्तर साधक अपने लिए जो भूमिका तय कर रहा है और जिस रूप में अपने मन से तैयार होकर आ रहा है, उसी के लिए भगवान् कह देः- 'जहासुहं देवाणुप्पिया!'

इसका आशय यह है कि जैन-धर्म एक विशाल और विराट धर्म है। वह मनुष्य की आत्मा के साथ चलता है, जबर्दस्ती करके नहीं चलता। धर्माचरण के विषय में सहज भाव और अन्तरंग की ही प्रेरणा होनी चाहिये। वहाँ आतंक, भय या लोक-लज्जा के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

हमें जो पाठ मिल रहा है, उसमें इच्छा का निवेदन है; अतएव जैन-धर्म को दूसरे शब्दों में हम 'इच्छायोग' कह सकते हैं। अर्थात् अपनी इच्छा से, परप्रेरणा या प्रतारणा के बिना धर्माचरण करने को जैन-धर्म विहित मानता है।

जब आप प्रतिक्रमण करते हैं और प्रतिक्रमण के पाठों का उच्चारण करते हैं तो एक जगह बोलते हैं—'इच्छामि खमासमणो! वंदिउं।' अर्थात् हे क्षमाश्रमण! मैं आपको वन्दना करना चाहता हूँ—क्योंकि मेरे मन में वन्दना करने की इच्छा उत्पन्न हुई है।

स्पष्ट है कि यहाँ किसी प्रकार का दबाव नहीं है तथा इच्छा के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ नहीं है। समाज का भी

कोई दबाव नहीं है। केवल सहज जागृति का ही भाव है। आचार्यों ने कहा है कि एक तरफ साधक को अपनी इच्छा बतानी है और दूसरी तरफ, जिसे वन्दना करना है, उस वन्दनीय की आज्ञा भी प्राप्त करनी है। आज्ञा प्राप्त करने का हेतु यह है कि गुरु जिस स्थिति में हैं, साधक से वन्दना कराने में उन्हें कोई असुविधा तो नहीं है? उपासक गुरु के निकट पहुँचा और गुरु सहज भाव में हुए, वन्दना ग्रहण करने की स्थिति में हुए तो बड़ी वन्दना करनी चाहिये और वैसी स्थिति में न हुए तो लघुवन्दना से भी काम चल जाता है। ऐसा न हो कि गुरु अस्वस्थ हों और लम्बी वन्दना शुरू कर दी जाय? अतएव दोनों तरफ की इच्छा होनी चाहिये—वन्दना करने वाले की भी और वन्दना को स्वीकार करने वाले की भी।

इसी प्रकार 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' के पाठ से जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें भी इच्छा का ही दर्शन होता है। और 'इच्छाकारेण संदिसह भगवं' इस पाठ से भी इच्छा की ही आवाज आ रही है।

इस प्रकार इन सब पाठों में इच्छा-प्रदर्शन का यही महत्त्व है कि साधना में अपनी भावनाओं की तैयारी ही मुख्य वस्तु है, ज़बर्दस्ती नहीं।

तैयारी ऊँची होगी, भावना ऊँची होगी तो साधक ऊँचा। और नीची भावना होगी तो नीचा जायगा; किन्तु

जो लड़खड़ाते हुए पैरों से ढकेल दिया गया है, वह जरूर लड़खड़ाता जायगा। अपनी निज की योग्यता नहीं है—लोक-लाज ने आगे बढ़ा दिया है; तो जब तक मन में उच्च विचार नहीं हैं, शुभ संकल्प नहीं हैं, तब तक वह त्याग और तपस्या का महत्व नहीं समझेगा, उसमें कोई रस नहीं लेगा। तो, कोई भी साधना क्यों न हो, जब तक वह भावना-पूर्वक नहीं की जावेगी, साधक को उसमें रस नहीं आयेगा।

आचार्य कहते हैं—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

बिना भावना के—बिना मन के की हुई कोई भी क्रिया फलप्रद नहीं होती।

जैनधर्म यह नहीं पूछता कि तू ने क्या किया है? जैन-धर्म का प्रश्न यह नहीं कि तूने मास खमण किया है या नवकारसी की है? वह तो यही पूछता है कि तूने कैसे किया है? तू तपस्या के समय दो घड़ी भी भावनाओं में बहता रहा है या नहीं? यदि तू भावना में लीन रहा है और अमृत के प्रवाह में बहता रहा है, तो तेरी दो घड़ी की तपस्या भी अच्छी है। और महीने भर की तपस्या करके बैठ गया और दो घड़ी के लिए भी शुभ संकल्प नहीं आये तो उससे आत्मा का क्या उपकार हुआ?

शक्ति को छिपाना मना है। तुममें जितनी शक्ति है, उसको छिपाने की चेष्टा मत करो। उसका उपयोग करो और उसका

उपयोग करोगे तो वह दिनों-दिन बढ़ती जायगी। किन्तु शक्ति से बढ़कर भी काम नहीं करना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार जितना तप-त्याग कर सकते हो, अवश्य करो, और जो तुम्हारी शक्ति से बाहर है, उस पर स्पृहा का भाव रक्खो। उस पर श्रद्धा करो। कहा भी है—

जं सक्कइ तं कीरइ, जं चण सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं

जो शक्य है, करो। जो शक्य न हो, उस पर श्रद्धा न रक्खो—उसे भी अपना कर्त्तव्य समझते रहो। इस प्रकार का श्रद्धाशील साधक एक दिन अजर-अमर पद प्राप्त कर लेता है।

आशय यह है कि ईमानदारी के साथ अपनी शक्ति को तोलो और उसके अनुसार कार्य करो। शक्ति से ज्यादा नहीं और कम भी मत करो। जिस साधक में शक्ति है, तैयारी है और ऊँचा संकल्प जाग उठा है, उसे उसकी अवहेलना भी नहीं करनी चाहिए और किसी वासना से प्रेरित होकर, लोकलाज या दबाव के कारण अपनी शक्ति से आगे भी कदम नहीं बढ़ाना चाहिए।

जो बात भोजन के विषय में है, वही भजन के विषय में है। अन्तर केवल यह है कि भोजन शरीर की खुराक है और भजन आत्मा की खुराक है। भजन का आशय यहाँ तप, त्याग, व्रत, नियम आदि सभी प्रकार के धर्माचरण से

है। तो जैसे भोजन उतना ही करना उचित समझा जाता है, जितना हज़म हो सकता हो, जितना करने की रुचि हो। पाचनशक्ति और रुचि के अनुसार जो भोजन किया जाता है, उसका अच्छा रस बनता है। वह भोजन शरीर को बलिष्ठ बनाता है। भले ही वह थोड़ा हो, किन्तु लाभदायक ही होता है। किन्तु दूसरों की ज़बर्दस्ती से, अपनी पाचन-शक्ति से अधिक ठूँसा हुआ भोजन, अधिक तो क्या, थोड़ा भी लाभ नहीं पहुँचाता। यही नहीं, वह शरीर में रोग पैदा कर देता है, आर्त्तध्यान उपजाता है और शरीर को दुर्बल बनाने का कारण साबित होता है।

इसी प्रकार अरुचिपूर्वक, शक्ति से बढ़कर, बिना भावना के ज़बर्दस्ती से जो तप-त्याग आदि किया जाता है, वह भी लाभकारी नहीं होता। वह आर्त्तध्यान उत्पन्न करता है और आगे चलकर तपस्या की रुचि को नष्ट कर देता है। इस ढँग से की गई लम्बी तपस्या भी, थोड़ी तपस्या के बराबर भी फलदायक नहीं होती।

आशय यह है कि प्रत्येक धर्मक्रिया के साथ आन्तरिक भावना और इच्छा को जोड़ना ज़रूरी है। बिना भावना की क्रिया सफल नहीं होती। एक जगह कहा है—

> धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं,
> क्रियाकाण्डं चण्डं रचितमवनौ सुप्तमसकृत्।

तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरम्,
न चेच्चित्ते भाव स्तुषवपनवत्सर्वमफलम् ॥

आपने सारा धन लुटा दिया, समस्त शास्त्रों को घोट-घोट कर कंठस्थ कर लिया, खूब क्रियाकाण्ड किया, भूमि पर शयन किया, कठोर तपश्चरण किया—महीनों तक भूखे रहे और लम्बे काल तक दूसरे प्रकार के चारित्र का पालन किया, किन्तु मन में भावना नहीं जागी है, इस सारे अनुष्ठान के पीछे आपकी रुचि नहीं है, इच्छा नहीं है और केवल दुनिया को दिखाने के लिए यह सब किया है तो सब कुछ निष्फल है। धान के छिलके बोने वाले किसान के भाग्य में, अन्त में निष्फलता ही बदी है, उसी प्रकार भावना और इच्छा के बिना क्रिया करने वाले के भाग्य में भी निष्फलता ही लिखी है।

मतलब यह है कि कोई भी धर्म किया हो और उसको करने वाला चाहे साधु हो या श्रावक हो, सब के लिए एक ही सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त से जैनधर्म ने अपना रास्ता तय किया है।

कहीं-कहीं आप पढ़ते हैं कि धर्म के लिए खून किये गये और तलवारों के जोर पर धर्म-परिवर्तन कराया गया। वह तलवारें कहती थीं—तुम इस धर्म को छोड़ कर इस धर्म को स्वीकार कर लो, अन्यथा हम तुम्हारी जिन्दगी का फैसला कर देंगी। अपने पड़ौसी धर्मों के इतिहास को पढ़ते हैं तो

मालूम होता है कि उनका इतिहास खून से रँगा हुआ है और तलवारों की छाया में ही उन्होंने अपने पैर फैलाये हैं। न उन्होंने बुड्ढों की भावनाओं को देखा, न बच्चों की भावनाओं को! और उस धर्म-परिवर्तन का रूप भी बड़ा उपहासास्पद रहा है! चोटी कटवाली तो इस्लामधर्म के अनुयायी हो गये और चोटी रखवा ली तो हिन्दू-धर्म के अनुयायी हो गये! जब धर्म का यह रूप बन गया तो संसार में कुहराम मच गया। भारत के इतिहास को देखने पर आपको यही रूप मिलेगा।

धर्म के इस काल्पनिक रूप के पीछे कितने अन्याय हुए हैं? कैसे-कैसे भयंकर अत्याचार हुए हैं। उन अन्यायों और अत्याचारों की कहानियाँ आज भी रौंगटे खड़े कर देती हैं।

किन्तु जब हम कहते हैं कि जैनधर्म के इतिहास में एक भी ऐसा प्रसंग नहीं है, एक भी खून का धब्बा कहीं नहीं लगा है, तो हमें महान् गौरव का अनुभव होता है। परिस्थितियों ने इजाजत दी तो बढ़े भी और कभी रुके भी; किन्तु जब और जहाँ कहीं भी जैनधर्म की दुन्दुभि बजी, वहाँ सम्राटों की विशाल सेना से और तलवारों से नहीं बजी। जैनधर्म जहाँ कहीं पहुँचा, अहिंसा का जीवन-संदेश लेकर पहुँचा; मौत का वारंट लेकर नहीं पहुँचा। उसने जिससे कहा, यही कहा कि यह अहिंसा का मार्ग है, करुणा का मार्ग है और पसन्द हो तो इसे ग्रहण कर सकते हो।

जैनधर्म ने राजा से भी यही कहा और एक रंक से भी यही कहा। सबल से भी और निर्बल से भी यही कहा। भगवान् ने आदेश दिया है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।

—आचारांग सूत्र

अर्थात्—राजा को जो उपदेश देते हो, वही रंक को भी दो और रंक को जो उपदेश देते हो, वही राजा को दो। राजा को उपदेश देते समय यह भय मत लाओ कि यह माँस खाता है, शराब पीता है, शिकार खेलता है अथवा परस्त्रीगमन करता है, तो इन सब बातों की बुराई कैसे करूँ ? करूँगा तो राजा नाराज हो जाएगा। इस प्रकार का भय मन में मत लाओ। जो सत्य है, जो तथ्य और पथ्य है, उसी का उपदेश दो। सिंहासन नाराज होता हो या डराता हो तो परवाह नहीं; परन्तु अपने मन में दुर्भावना की गंध मत रक्खो। वह सत्य कैसा जो कटुक हो ? वह मधुर ही होना चाहिए, परन्तु तथ्य और पथ्य भी होना चाहिए और निर्भय भाव से व्यक्त किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार कोई दरिद्र और भिखारी आया है तो उस से भी उसी प्रेम और स्नेह से सत्य बात कहो। वहाँ यह विचार मत करो कि इस दरिद्र को क्या उपदेश दूँ। अगर इसने धर्म को अंगीकार भी कर लिया तो धर्म की क्या उन्नति

होगी ? राजा धर्म को अंगीकार कर लेगा तो प्रभावना होगी, परन्तु इस दरिद्र के साथ माथापच्ची करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

तो भगवान् महावीर कहते हैं कि हमें धर्म को धन, वैभव या प्रभुत्व के काँटे पर नहीं तोलना है, हमें तो उसे स्नेह, प्रेम और भावना के काँटे पर तोलना है। अतएव ग़रीब के हृदय में भी अगर प्रेम की ज्योति जगी है और सद्भावना उदित हुई है, उसकी आत्मा जागृति माँग रही है, तो उसे भी उसी प्रेम से उपदेश दो; किन्तु उपदेश के पीछे किसी प्रकार का कड़वापन नहीं होना चाहिए।

धर्म आत्मा की खुराक है। वह जबर्दस्ती किसी के गले में ठूँसने की चीज़ नहीं है; बलात् किसी के मत्थे मढ़ देने की भी चीज़ नहीं है। तलवार धर्म का खून कर सकती है, धर्म चमका नहीं सकती। तलवार की चमक से धर्म में चमक नहीं पैदा हो सकती। जैनधर्म के हज़ारों वर्षों के लम्बे इतिहास के पन्ने में यही मनोभावना ओतप्रोत है। इसी कारण जैनधर्म का प्रचार करने के लिए कभी तलवार का उपयोग नहीं किया गया !

उदायन आदि बड़े-बड़े सम्राट प्रभु के चरणों के सेवक रहे हैं, चन्द्रगुप्त जैसे महान शक्तिशाली सम्राट भी जैनधर्म के अनुयायी हुए हैं। हेमचन्द्र के युग में कुमारपाल जैसे बलवान राजा भी भक्त हो गए हैं। जैनधर्म ऊँचे से ऊँचे

महलों में भी रहा है और बड़ी से बड़ी ताकतों में भी रहा है, मगर उसने कभी उस ताकत का प्रयोग नहीं किया। जैनधर्म का एकमात्र दृष्टिकोण यही रहा है कि साधक सहज भाव से, अन्तः प्रेरणा से, उसे अंगीकार करे। वह तलवार के जोर पर नहीं चला और न उसने चलना ही चाहा।

जैन-धर्म इच्छा का धर्म है। जैन-धर्म के अनुयायी चाहते तो शक्ति का प्रयोग कर सकते थे। शंकराचार्य की तरह हमें भी शक्ति का प्रयोग करने से कौन रोक सकता था? मगर नहीं, ऐसा करना धर्म की आत्मा का घात करके उसके मुर्दे को गले लगाना है। जैनधर्म आत्मा की साधना और कल्याण के लिए है। वह प्रेम और स्नेह पर आधारित है, बलात्कार पर नहीं। जब तक हमारा यह आदर्श बना रहेगा, सौ में नहीं तो एक में ही सही, जैनधर्म अमर रहेगा। और भय या दबाव से हजारों को भी मूंड़ लिया गया और उनमें भावना नहीं आई तो वह व्यर्थ है! ऐसा धर्म अधिक दिनों तक जिन्दा नहीं रह सकता।

जैनधर्म के अनुयायी करोड़ों से लाखों की संख्या में आ गये, किन्तु जैनधर्म को इसकी चिन्ता नहीं है। हमें नाम की चिन्ता नहीं, काम की चिंता है।

आपने इतिहास में पढ़ा होगा कि बिहार प्रान्त जैनधर्म का प्रधान केन्द्र रहा है। किन्तु एक समय वहाँ के जैनी भगा दिये गए और तलवार की नोंक के द्वारा खदेड़ दिए गए।

पुष्पमित्र ने इस काम के लिए अपनी बहुत बड़ी शक्ति लगादी। हजारों से अधिक ने अपने प्राणों का बलिदान दिया, किन्तु धर्म-परिवर्त्तन नहीं किया। जब वे दक्षिण और गुजरात में पहुँचे तो वहाँ उन्हें बड़े-बड़े राजा और सम्राट मिल गये। उन्हें तलवारों की शक्ति मिल गई। फिर भी उन्होंने एक बार भी बदला लेने का विचार नहीं किया। उन्होंने नहीं सोचा कि हम निकाले गये, सताये गए और मौत के घाट उतारे गये, तो आओ अब बदला ले लें। उनमें यह भावना और यह प्रकाश कहाँ से आया? वह आया 'जहासुहं' में से। यही हमारा प्रकाशस्तंभ रहा है और इसी की रोशनी में हम हजारों वर्षों से अपनी दुख-सुख भरी यात्रा करते चले आ रहे हैं।

हम जानते हैं और हमारा दावा है कि आखिरकार हमारा ही सिद्धान्त विजयी होगा। हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न इसी सिद्धांत से हल होगा और आज की समस्याएँ इसी 'जहासुहं' से हल होंगी। मार-काट या तलवार के जोर पर धर्मों का फ़ैसला नहीं हुआ करता और न कभी होगा ही।

जैनधर्म ने इन्सान की आत्मा को पहचाना है इसलिए उसने बार-बार यही कहा है—'जहासुहं'। जिसमें सुख उपजे वही करो।

जब विकास होगा तब होगा। एक फूल है और अभी

अभी कली के रूप में, वृक्ष की डाल पर मुँह खोलने को तैयार हुआ है। उससे चाहा जाय कि अभी, इसी समय खिल जा। तो क्या वह खिल जायगा? और हाथ से उसकी पंखुड़ियों को बिखेर कर कोई कह दे कि फूल खिल गया है तो क्या वह वास्तव में खिल गया है? उस फूल को अभी फूलना है, और उसमें महक आनी है। उसे कुदरत के भरोसे छोड़ दो। तुम उसकी रक्षा कर सकते हो, उसे खिलने का मौक़ा दे सकते हो, परन्तु हाथ से बिखेर कर कहो कि खिलो, खिलो और उसे महकने न दो तो इससे बढ़ कर मूर्खता क्या हो सकती है?

हृदय का यह पुष्प भी खिलेगा। तुम उसकी रक्षा करने की तैयारी करो। जबर्दस्ती खिलाने का प्रयत्न मत करो। ऐसा करने से परिणाम उलटा होगा।

मैं बड़े महाराज (पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज) के साथ एक गांव गया। वहाँ एक जुलाहा था। वह प्रेमी था और अक्सर आया करता था। वह जरा से जीर्ण हो चुका था। गाँव के दूसरे लोग उसका मज़ाक किया करते थे और उत्तर में वह मधुर मुस्कान से मुस्करा दिया करता था।

मुझसे एक ने कहा—भगत जी से पूछिये कि खेती की है? ईख बोई है? और ईख कैसे बोई जाती है।

मैंने उन्हीं के सामने बूढ़े से पूछा—क्या कहते हैं यह

बूढ़े ने कहा—मैं तो जुलाहा हूँ और जुलाहे का ही काम करता था। किन्तु एक बार किसी से जमीन का टुकड़ा लेकर थोड़ी ईख बो दी। चौथे-पाँचवे दिन खेत में पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि सब अँकुर एक से नहीं हैं। सब एक साथ बोये थे और अब देखा कि अँकुर सब एक सरीखे क्यों नहीं हैं। कोई पौधा बड़ा हो गया है तो कोई छोटा रह गया है। तब मैंने एक छोटे-से पौधे को पकड़ लिया और उससे कहा—'तू छोटा कैसे रह गया।' और उस पौधे के सिरे को पकड़ कर मैंने कहा—'बड़ा हो जा।' ज्यों ही उसे बड़ा करने लगा, वह ऊपर को आने लगा। जब उसे मैंने जरा जोर से पकड़ कर कहा कि ऊपर उठ, तो वह ऊपर उठने लगा और बाहर आ गया। वह उखड़ गया और सूख गया।

लोगों ने देखा और मेरी हँसी की और कहने लगे—यों तो तुम सभी पौधों को उखाड़ फैंकोगे।

बूढ़ा फिर बोला—हुजूर! मेरे बाप-दादाओं ने कभी ईख नहीं बोई। मैं ईख बोना क्या जानूँ? मुझे क्या पता था कि पौधे को बड़ा करने जाऊँगा तो पौधा उखड़ जाएगा?

भगत की कहानी सुनकर हमें हँसी आती है, परन्तु कभी-कभी हम भी क्या उसी के समान चेष्टाएँ नहीं करते? हमारे सामने कोई साधक आता है और हम उसकी भूमिका नहीं देखते, उसके जीवन को नहीं देखते, उसकी मानसिक

स्थिति को नहीं परखते, वह जागा है या नहीं—और जागा है तो कितनी मात्रा में जागा है—यह जानने का प्रयत्न नहीं करते, और उससे कहने लगते हैं कि यह नियम ले लो। और वह नियम ले लो। खींचतान शुरू हो जाती है और उसे बढ़ाने की धुन में उखाड़ कर ही फैंक देते हैं।

लाला लाजपतराय के विषय में आपने सुना ही होगा। वे पंजाब के शेर के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने सारे भारत में प्रतिष्ठा प्राप्त की। अमेरिका में अपने विचारों की धूम मचा दी। वह जगरावाँ के रहने वाले थे और जैन थे। उनके परिवार में अब भी जैनधर्म का पालन किया जाता है। जब वह लाहौर में बी० ए० में पढ़ते थे—तो, एक बार अपने घर आये। वहाँ एक पुराने सन्त थे। लालाजी ने सोचा—चलो, दर्शन कर आएँ! दर्शन करने गये तो सन्त ने पूछा—क्या नाम है?

उत्तर मिला—लाजपतराय!

क्या करते हो?

पढ़ता हूँ।

अच्छा, कुछ नियम लिया है?

नहीं, महाराज! नियम तो कुछ नहीं लिया है, पर अच्छी तरह रहता हूँ।'

सन्त हरी के त्याग पर अड़ गये! मगर लालाजी ने साफ कह दिया—नहीं, मैं हरी का त्याग नहीं करूँगा।

सन्त को क्या पता था कि इनकी कितनी तैयारी है ? उन्हें क्या मालूम था कि यह शराब पीते हैं या मांस खाते हैं ? उनकी भरी-पुरी जवानी है और पैसे वाली जवानी है। पैसे वाले खुले हाथ होते हैं और जब परिवार से अलग रहते हैं तो बहुत बार जीवन को बर्बाद कर लेते हैं। मेरा आशय यह नहीं कि लाजपतराय में ये दुर्गुण थे। मैं यह कहना चाहता हूँ कि सन्त को उनके वास्तविक जीवन का और उनके विचारों का पता नहीं था। उन्होंने उनकी भूमिका को नहीं समझा था। इसी कारण वे हरी के त्याग पर अड़े रहे।

सन्त ने केवल हरी के त्याग का उपदेश ही नहीं दिया, उस पर बल भी दिया। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि जब वे दुबारा आये तो फिर किसी भी साधु के पास नहीं गये।

जब घर वालों ने साधुओं के पास जाने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया—वहाँ जाकर क्या करूँ ? वे हमारे जीवन के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं देते, जीवन के महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों पर रोशनी नहीं डालते और हरी छोड़ने की बातें करते हैं।

आप इस घटना पर विचार करें तो मालूम होगा कि जैनधर्म के 'जहासुहं' मूल मंत्र को ध्यान में न रखने के कारण एक महाशक्ति हमसे दूर जा पड़ी। लाला लाजपत-

राय के चित्त में उस दिन से जैन-साधुओं के प्रति जो उपेक्षा का भाव जागृत हुआ, वह फिर नहीं मिटा। वे आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हो गये।

जिसने माँस-मदिरा का त्याग कर दिया है और एकेन्द्रिय जीवों को भी जिसका करुणाभाव स्पर्श करने लगा है, उसे हरी का त्याग करने का उपदेश देना अनुचित नहीं है, मगर जो इस भूमिका पर भी अभी नहीं पहुँचा है, जो माँस को दाल-रोटी की तरह और मदिरा को पानी की तरह समझता है, उसे पहले माँस-मदिरा की बुराइयाँ बतानी चाहिएँ। हाँ, बुराइयाँ बतानी चाहिएँ, प्रेरणा भी मर्यादाओं में रह कर करनी चाहिए, बलात्कार करना तो साधु का धर्म नहीं है।

आशय यह है कि जो जिज्ञासु या मुमुक्षु हमारे पास आया है, हम अपने कौशल से उसकी भूमिका को समझने का प्रयत्न करें। देखें कि जैनधर्म पर उसका विश्वास है या नहीं? उसके पारिवारिक संस्कार किस प्रकार के हैं? उसकी धार्मिक रुचि का किस सीमा तक विकाश हुआ है—इत्यादि बातों को समझ कर दिया गया उपदेश सफल होता है।

जिसने भोगोपभोगों की असारता को भलीभाँति समझ लिया है और जिसके अन्तःकरण में साँसारिक प्रपंचों से हटकर एकान्त साधनामय जीवन यापन करने का विचार पैदा हुआ है, उसे साधु बन जाने का उपदेश दिया जा सकता

है। अगर किसी की भूमिका इतनी उच्च नहीं बन पाई है तो उसके श्रावक बन जाने में भी क्या कम लाभ है? और श्रावक की भूमिका के योग्य भी नहीं है, वह यदि सम्यग्दृष्टि बन गया तो भी क्या कम लाभ हुआ? उसने एक मंजिल तय कर ली है। अनादि काल से भटकते-भटकते यदि उस भूमिका पर आ गया तो कम सफलता की बात नहीं है। और यदि इतना करना भी किसी के लिए शक्य न हो तो उसके विषय में भी जैनधर्म कहता है, जैसा कि चित्त मुनि ने चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त से कहा था—

> जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो,
> अज्जाइं कम्माइं करेह रायं।
> धम्मे ठिओ सव्वपयाणु कंपी,
> होहिसि देवो इओ विउव्वी॥
>
> —उत्तराध्ययन, १३

अर्थात्—हे राजन! तुम भोगों का त्याग नहीं कर सकते तुममें साधु बनने की योग्यता नहीं है; तो न सही, आय-जनोचित कर्म तो करो—भलमनसाहत के ही काम करो। राजा बने हो तो अपने राज-कर्त्तव्य का ही पालन करो। तुम्हारी प्रजा है, देश है, नागरिक हैं, उन पर तो करुणा का भाव रख सकते हो और उनको तरक्की के काम कर सकते हो। माँस-मदिरा जैसी गर्हित वस्तुओं का त्याग करदो—इतना त्याग कर देने से भी देवता बन सकते हो।

इस प्रकार चित्तमुनि ऊपर से चले और आखिर नीचे आते-आते यहाँ तक आगये। यही इच्छाधर्म है और यह धर्म महान् संदेश देने को आया है।

इस प्रसंग पर मुझे इतिहास की एक घटना याद आ रही है। स्यालकोट का नाम पहले संगलकोट था। वहाँ एक पण्डित जी रहते थे। बड़े ही संकीर्ण विचारों के थे—वह! उनकी मान्यता थी कि अवैदिक साधु की परछाई पड़ जाय तो स्नान करना चाहिए।

एक बार वहाँ बौद्धसंघ इकट्ठा हुआ। उसमें चर्चा चली कि कौन भिक्षु ऐसा है जो उस ब्राह्मण को बौद्धधर्म की दीक्षा दे सके? हिंसा के मार्ग पर चलने वाले उस ब्राह्मण को कौन धर्म-मार्ग पर ला सकता है?

एक भिक्षु ने कहा—मैं प्रयत्न करूँगा।

दूसरे ने कहा—पागल हो गये हो क्या! उसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। वह अभद्र है। उसे धर्ममार्ग पर लाना आकाश के तारे तोड़ लाना है।

किन्तु पहला भिक्षु अपने संकल्प पर अविचल रहा।

वास्तव में भिक्षु का संकल्प उचित ही था। सभी धर्म मनुष्य पर विश्वास रखते हैं। मानते हैं कि आज जिसे जड़ता ने घेर रक्खा है, उसमें भी कभी न कभी चेतना की जागृति हो सकती है। जो आज अंधकार में भटक रहा है, वह कभी तो प्रकाश में आएगा! आखिर तो आत्मा स्वभावतः

चेतना-मय है, प्रकाशमय है ! कब तक भूला-भटका रहेगा ? इसी सिद्धान्त और विश्वास के बल पर मनुष्य प्रयत्न करता है और करता ही रहता है और एक दिन उसका प्रयत्न सफल भी हो जाता है ।

हाँ, तो उस भिक्षु ने भी यही सोचा । कुछ भी क्यों न हो, ब्राह्मण आखिर पण्डित है । उसमें ज्ञान है । ठीक है, इसका ज्ञान ग़लत राह पर उसे चला रहा है, मगर राह बदलते क्या देर लगती है । और बदले या न बदले, प्रयत्न करना मेरा कर्त्तव्य है । यही मेरी साधना और संघ-सेवा होगी ।

इस प्रकार विचार कर भिक्षु उस ब्राह्मण के घर, भोजन के समय, जाने लगा । जाने लगा तो ब्राह्मण को उसका आना अरुचिकर हुआ । उसने अपने घर आने वालों से कह दिया— कोई इस भिक्षु से बातचीत न करे ! यह दुर्बुद्धि है । इसके साथ वार्त्तालाप करने से भी पाप लगता है ।

भिक्षु ब्राह्मण के घर गया तो कोई घर वाला नहीं बोला । वह लौट आया । किन्तु भिक्षु दूसरे दिन फिर वहाँ जा पहुँचा । बोला—क्या आहार—पानी की सुविधा है ? फिर भी सब चुप रहे । वह फिर लौट आया । तीसरे दिन भी वह पहुँचा और फिर लौट आया । यों जाते-जाते और खाली हाथ लौटते-लौटते दस महीने गुज़र गये । प्रतिदिन जाना और अपनी वही बात दोहराना, शान्त भाव से, बिना किसी घृणा और नफ़रत के, बोली में मिश्री घोल कर—भैया, आहार-

पानी की सुविधा है ?' और फिर बिना खेद, सन्तुष्ट भाव से लौट आना, उसका दैनिक कार्य हो गया।

एक दिन भिक्षु जब पहुँचा तो ब्राह्मण घर पर नहीं था। आहार-पानी की याचना की तो ब्राह्मणी का हृदय पसीज गया। वह सोचने लगी-बेचारे को यहाँ आते-आते दस महीने हो गये हैं। आज तक कभी कुछ नहीं पाया है, फिर भी प्रतिदिन आता रहता है।

और तब ब्राह्मणी ने भिक्षु से कहा—क्या करूँ भिक्षु, मैं दे दूँ तो पण्डितजी नाराज हो जाएँगे। मैं विवश हूँ।

भिक्षु ने शान्तभाव से कहा—ठीक है बहिन ! मैं अपना काम करता हूँ, तुम अपना काम करो। मेरे कारण घर में कलह नहीं होना चाहिए। मैं जाता हूँ।

भिक्षु लौट गया। वह लौटा ही था कि सामने से ब्राह्मण आ गया। भिक्षु को देखते ही वह समझ गया कि यह कहाँ से आ रहा है। फिर भी उसने कहा—'अरे मुंडित। कहाँ गया था ?'

'आपके घर से ही तो आ रहा हूँ।'

'क्या कुछ मिला ?'

'हाँ, आज तो कुछ मिल गया ?'

ब्राह्मण सुन कर लाल-पीला हो गया। उसने भिक्षु से कहा 'जरा ठहरना।' और वह अपने घर में गया। पूछा—'आज उस मुंडे को कुछ दे दिया है ?' ब्राह्मणी ब्राह्मण की मुखमुद्रा

देख कर सकपका गई। उसने कहा—'नहीं, मैं ने तो कुछ दिया नहीं है।'

ब्राह्मण—'तब वह झूठ बोलता है।'

ब्राह्मण बाहर आया। उसने आसपास के लोगों को इकट्ठा कर लिया। फिर भिक्षु से कहा—'तुम असत्य क्यों बोले? कैसे कहा कि आज कुछ मिल गया है? बताओ, क्या मिला है?'

मधुर मुस्कान के साथ भिक्षु ने कहा—'आज आपकी पत्नी ने 'ना' दिया है। दस महीने मुझे आते-आते हो गए। आज से पहले 'ना' भी नहीं मिलता था। आज इतनी सफलता मिली। यह क्या कम सफलता है? आज 'ना' मिली है तो किसी दिन 'हाँ' भी मिल जायेगी।'

ब्राह्मण कुछ शान्त हुआ। उसने कहा—'यह प्रयत्न कब तक करते रहोगे?'

भिक्षु—'जब तक जीवन है।'

भिक्षु का उत्तर सुनकर ब्राह्मण पिघल गया और उसके समभाव को देख कर हर्ष से गद्गद हो गया। सोचने लगा—यह भी जीवन है। घर आते दस महीने हो गये। कभी कोई सन्मान नहीं मिला। अन्न का दाना नहीं मिला। फिर भी आता है और 'भैया, अन्न-पानी की सुविधा है' कह कर लौट जाता है। इसके सिवाय कभी कुछ नहीं कहता। धन्य है, भिक्षु की समता और सहिष्णुता! इसमें कितनी शान्ति और कितनी स्निग्धता है।

उसी समय ब्राह्मण, भिक्षु के पैरों में गिर पड़ा। बोला—'मैंने ऐसा धर्म और ऐसा गुरु नहीं देखा। आप तो मेरे जीवन से चिपटने आए हो। आप मुझे तारना चाहते हैं। मेरे सौभाग्य ने ही आपके मन में यह प्रेरणा दी है।' और ब्राह्मण बौद्धधर्म में दीक्षित हो जाता है।

हमारे यहाँ भी धर्म का यही संदेश आया है। प्रयत्न करो और देखो कि जागृति आई है या नहीं? साधु की, श्रावक की सम्यग्दृष्टि की भूमिका आई या नहीं? नहीं आई है तो फिर प्रयत्न करो। तुम्हारा काम प्रयत्न करना है, दबाव, ज़बर्दस्ती या छीना-झपटी करना नहीं। जैनधर्म की महान् भूमिका लेकर आये हो तो महान् तैयारी करो।

मैं दिल्ली गया। जहाँ ठहरा, उसके पीछे की ज़मीन में जामुन का पेड़ है। जब उस पेड़ में जामुन पकते हैं तो बच्चों का शोर होने लगता है। बच्चे निशाना ताक कर पेड़ में पत्थर मारने लगते हैं और फिर देखते हैं कि निशाना लगा है या नहीं? और फल आ रहा है या नहीं? आया तो ठीक, नहीं तो फिर पत्थर मारते हैं और फिर इन्तज़ार करते हैं।

मैंने यह देखा और विचार किया—जीवन का यही आदर्श है कि मनुष्य एक बार प्रयत्न शुरू कर दे और देखे कि क्या परिणाम आता है? यदि अभीष्ट परिणाम आ गया तो ठीक ही है; न आया तो फिर इन्तज़ार करे और फिर प्रयत्न आरंभ कर दे। यही साधना है। इसी साधना के बल

पर भगवान् ने इतना विशाल संघ कायम किया था, जिसमें बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ साहूकार, धनी-निर्धन, कुलीन-अकुलीन आदि—सभी वर्गों के लोग शामिल थे। संघ के पास देवता, इन्द्र एवं सम्राटों की बहुत बड़ी शक्ति थी, परन्तु धर्म प्रचार के लिए कभी उस शक्ति का बलात् उपयोग नहीं किया गया। 'जहासुहं, की अमृत वाणी की धारा ऐसी बही कि चौदह हजार साधु, छत्तीस हजार साध्वियाँ और लाखों श्रावक और श्राविकाएँ भगवान् के चरणों में गिर गये। यही अमृतवाणी जैनधर्म की अमिट ताकत है और इसी में अहिंसा की भावना लहराती हुई दिखाई देती है।

कोई साधु या श्रावक बनता है तो अच्छा है और कोई नवकारसी करता है तो भी अच्छा है। कोई लाखों का दान देता है तो अच्छी बात है और कोई एक पैसा देता है तो भी अच्छी बात है। यही जैनधर्म का आदर्श है।

आनन्द ने साधु बनने में अपनी असमर्थता प्रकट की और श्रावक के व्रतों को अंगीकार करने की इच्छा प्रकट की। तब भगवान् ने यह नहीं कहा कि—भाई, साधु ही बन जाओ। यही कहा—जैसी मर्जी! 'जहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।' अर्थात हे देवों के प्यारे। जिस प्रकार सुख उपजे, वैसा करो, किन्तु धर्म करने में विलम्ब न करो।

भगवान् के इस इच्छा-धर्म को हम समझ लें और इस

पर चलने लगें तो हमारी बहुत-सी जटिलताएँ खत्म हो जाएँ, हम अनेक प्रकार के साम्प्रदायिक कलह और क्लेश से छुटकारा पा जाएँ और शान्ति प्राप्त करें ! तथाऽस्तु ।

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
२१-८-५०

मा पडिबंधं करेह !

यह श्रीउपासकदशाँगसूत्र है और आनन्द का वर्णन आपके सामने चल रहा है।

कल आपने सुना कि आनन्द ने जब श्रावक-व्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की तो भगवान् ने उत्तर दिया—'जहा-सुहं देवाणुप्पिया !' अर्थात् हे देवों के प्यारे, जिसमें आत्मा को सुख उपजे, वही करो। मतलब यह कि तुम्हारी इच्छा और तुम्हारा संकल्प जागृत हुआ है और तुम आध्यात्मिक भूमिका में आना चाहते हो तो अच्छी बात है। इसमें कोई बलात्कार नहीं है, कोई खींच-तान नहीं है। यह तो भावना का मार्ग है। इस मार्ग पर अपने पैरों से चला जाता है, घसीट कर नहीं चलाया जाता।

कल इसी संबंध में विवेचन किया गया था तो इस सिद्धान्त को समझने में किसी प्रकार की भ्रान्ति न रह जाय, इस अभिप्राय से आज भी इस संबंध में थोड़ा स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ।

प्रश्न यह है कि धर्माचरण के लिए किसी को प्रेरणा दी जाय या नहीं ? किसी को सत्कर्म करने के लिए और कल्याण की राह पर लाने के लिए प्रयत्न किया जाय या नहीं ? अथवा प्रत्येक को उसकी इच्छा पर ही छोड़ दिया जाय ? कह दिया जाय कि हम कुछ नहीं कहते, तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो !

इस प्रश्न पर हमें विचार कर लेना चाहिए । मैं कह चुका हूँ कि प्रयत्न करना हमारा हक है, अधिकार है और कर्त्तव्य भी है। जहाँ कहीं भी गलती या बुराई दिखाई दें, चाहे वह व्यक्ति में हो, परिवार में हो, संघ या समाज में हो अथवा देश में हो, साधु उसे दूर करने के लिए प्रयत्न करे—ज़रूर करे। वह चुपचाप नहीं बैठा रहे। उस बुराई को मिटा देने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दे। किन्तु इतना सब करने के पश्चात् भी अगर भूमिका तैयार नहीं होती, जीवन में उल्लास नहीं आता, चमक नहीं आती और हृदय हर्ष से गद्गद नहीं होता, साधक का मन सोया पड़ा रहता है—जागता नहीं है, तो उसे घसीटा नहीं जा सकता।

एक आदमी बैठा है। आप उसे खड़ा करना चाहते हैं

और चलाना चाहते हैं—तो आप क्या करेंगे ? आप उसे चलने के लिए कहेंगे और कहेंगे कि भाई ! पुरुषार्थ करो; बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। प्रयत्न करने से काम सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार कहने से वह खड़ा हो जाय और चलने लगे तो ठीक है। अगर वह खड़ा नहीं हो और पड़ा ही रहे, उठने की भावना उसके मन में जागे ही नहीं तो आप क्या करेंगे ? कदाचित् हाथ-पैर पकड़ कर और घसीट कर आप ले गये तो उसका क्या अर्थ है ? कहाँ तक घसीटेंगे और कब तक घसीटेंगे ?

भगवान् का 'जहासुहं' वाला इच्छा-मार्ग हमें यही सिखलाता है कि आप प्रेरणा दीजिए, प्रयत्न कीजिए, साधक मिले तो उसे समझाइए और सन्मार्ग पर चलने के लिए उसकी इच्छा जागृत कीजिये, जिसे वह स्वेच्छा से तैयार हो जाय। इतना करने पर भी उसकी इच्छा जागृत नहीं होती; भावना नहीं बनती तो उसे रोते हुए और घसीटते हुए ले चलने का प्रयत्न मत कीजिए।

इस प्रकार भगवान् का 'जहासुहं' का मार्ग हमें प्रेरणा देने और उसके लिये प्रयत्न करने से इन्कार नहीं करता।

कल एक रूपक कहा था। फल पाने के इरादे से बच्चे पत्थर फेंकते हैं और फेंकने के बाद प्रतीक्षा करते हैं कि वह निशाने पर लगा या नहीं ? निशाना चूक जाता है और पत्थर नीचे आ जाता है, तो बालक निराश नहीं होते, वे

फिर प्रयत्न करते हैं। फिर पत्थर मारते हैं और फिर फल गिरने की प्रतीक्षा करते हैं।

हमें भी जनता के प्रति यही व्यवहार करना है। हमें कोई भी मिले, एक आदमी मिलें, चाहे अनेक मिलें, पूरा समाज मिले—चाहे पूरा राष्ट्र मिले, आप प्रयत्न करके देखिये—एक बार नहीं, अनेक बार! जब तक आपके प्रयत्न का कोई फल न निकले, तब तक। तो अपने प्रत्येक प्रयत्न के पश्चात् देखते भी चलिये कि व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के मन पर आपकी बात का प्रभाव पड़ा या नहीं—अगर नहीं, तो फिर प्रयत्न कीजिए—फिर, और फिर! और जब आपका प्रयत्न सफल हो जाये तो वहाँ से दूर हट जाइये, अन्यथा मोह का दुर्गुण आप में प्रवेश कर जायेगा और परिग्रही हो जायेंगे। तो जब तक आप सफल-मनोरथ न हो जायें, तबतक आपका प्रयत्न सतत चालू रहना चाहिए—प्रेरणा देने के लिए, साधक की इच्छा को जगाने के लिए। घसीट कर ले जाने के लिए नहीं। जैनधर्म सत्कर्म करने की इच्छा को जगाने की इजाजत देता है, घसीटने की नहीं।

भगवान् महावीर ने समग्र विश्व को यह महान् संदेश दिया कि तुम्हें अपना मार्ग अपने आप तैयार करना है। जितना चल सकते हो, खुशी से चलो। रोते-रोते मत चलो। रोकर जाओगे तो मरे की खबर लाओगे।

किसी लड़के का बाप लड़के को किसी काम के लिए

भेजना चाहता है। लड़के की इच्छा नहीं होती तो वह कहता है—'मैं वहाँ कैसे जाऊँगा ? कैसे बोलूँगा ? क्या कैसे करूँगा ? मुझसे यह नहीं बनेगा। आप ही जाइए।' इस प्रकार वह इन्कार करता है। किन्तु पिता की आग भरी आँखें देखकर और झिड़कियाँ सुनकर वह जाने को मजबूर होता है; चला भी जाता है और नाकामयाब होकर लौटता है। अपना मुँह लटकाये हुए आता है—तो पिता कहता है—मैं तो पहले ही जानता था कि रोता जाएगा तो मरे की खबर लायगा।

अब उस पिता से कोई पूछे कि तुम पहले ही जानते थे तो लड़के को क्यों जाने को मजबूर किया ? तुम स्वयं क्यों नहीं गये—जो, मरे की नहीं, जिन्दे की खबर लाते।

इसी प्रकार साधक के विषय में भी देखना चाहिए कि वह काम करेगा या नहीं ? और करेगा तो कितना करेगा ! जब यह नहीं देखा जाता और जबर्दस्ती उस पर भार लाद दिया जाता है तो वह अवसर आते ही लादे हुए भार को उतार कर फेंक देता है। परिणाम यह होता है कि वह प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होकर छल और कपट का सेवन करने लगता है। और यह आप जानते ही हैं कि प्रतिज्ञा न लेने की अपेक्षा प्रतिज्ञा लेकर उसे खण्डित कर देना कितना बड़ा पाप है।

अभिप्राय यह है कि आप प्रेरणा अवश्य दें, प्रयत्न अव-

श्य करें, मगर साधक की इच्छा जगाने के लिए यह सब करें। उसकी इच्छा जाग जाय तो आप उसे साधु, श्रावक या सम्यग्दृष्टि बनाएँ। इच्छा न जागे तो जबर्दस्ती न करें। जो साधक अपनी आन्तरिक इच्छा से किसी व्रत, नियम या प्रतिज्ञा को ग्रहण करेगा, वह दृढ़तापूर्वक उसका पालन करेगा। फिर संसार की कोई भी शक्ति उसे उसके मार्ग से मोड़ नहीं सकेगी

भगवान् के इसी सन्देश को हम इच्छायोग या इच्छाधर्म कहते हैं।

भगवान् महावीर ने एक ही छोटे-से वाक्य में दो महत्त्वपूर्ण संकेत प्रकट किये हैं। पहले 'जहासुहं' फिर देवाणुप्पिया और फिर 'मा पडिबंधं करेह'। 'जहासुहं' की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ 'मा पडिबंधं करेह' के सम्बन्ध में विचार करना है।

'मा पडिबंधं करेह' का आशय है—जो तुमने सोचा है, सत्य के लिये जो सङ्कल्प किया है, उस पर अमल करने में विलम्ब न करो, लापरवाही न करो, आलस्य न करो। तुमने अपने विचारों में जो लक्ष्य बना लिया है, अपनी भावना, प्रेरणा या जागृति के अनुसार अपने लिये जो मार्ग निश्चित कर लिया है, उसके विषय में हम नहीं कहते कि इतना नहीं, इतना करो—और अधिक करो; परन्तु यह अवश्य कहते हैं कि उस लक्ष्य पर चलने में विलम्ब मत करो।

इस प्रकार भगवान् का दूसरा नारा है—'देर मत करो।' जहाँ-जहाँ 'जहासुहं' आया है, वहाँ-वहाँ 'मा पडिबंधं करेह' अर्थात् 'देर मत करो' भी आया है।

यह भी महत्त्वपूर्ण आदर्श है! साधारणतया देखा जाता है कि लोग सोच-विचार में ही अपना समय नष्ट कर देते हैं। राजस्थान में तो कहावत भी है—मारवाड़ मंसूबे डूबी! आज कोई निर्णय किया और सोचा—कल कर लेंगे! जब कल आया और फिर भी नहीं किया तो फिर सोचा—कल कर लेंगे! इस प्रकार टालमटूल करते-करते अवसर करने की भावना ही समाप्त हो जाती है और फिर जिंदगी भी समाप्त हो जाती है। जिंदगी का कुछ भरोसा नहीं है, यह जानता हुआ भी मनुष्य भविष्य में करने की सोचता है! किन्तु जब मनुष्य बन कर ही न किया तो क्या ऊँट या घोड़ा बन कर करेगा?

आज तू सोने के सिंहासन पर बैठा है और तुझे लक्ष्मी की झनकार सुनाई दे रही है। ऐसे समय कुछ करने का मौका आता है तो कह देता है—कल करूँगा, फिर देखूँगा, सोचूँगा! परन्तु कौन जानता है तेरे भविष्य को? सम्भव है, तेरा सारा वैभव लुट जाय और रोटियों का प्रश्न हल करना भी मुश्किल हो जाय! उस समय क्या करेगा। कौन जानता है कि किस समय श्वांस रुक जायगा। कब हृदय की धड़कन बन्द हो जायगी।

तो जीवन में जो शुभ सङ्कल्प जागृत हुआ है, उस पर अमल करने में विलम्ब करना, सोच-विचार में पड़े रहना और कल करूँगा या परसों करूँगा, कह कर टालमटूल करना, जैन-धर्म की प्रेरणा नहीं है। जैन-धर्म सन्देश देता है कि जब तुम्हारे अन्तर में शुभ सङ्कल्प का उदय हो तो अपनी योग्यता को जाँच लो और जितना कर सकते हो, उतना, करने के लिए अविलम्ब कटिबद्ध हो जाओ। उसको करने में पल भर की भी देर मत करो।

जिंदगी का कुछ भी पता नहीं है। आज मनुष्य का जीवन मिला है, अच्छी संस्कृति मिल गई है, शारीरिक अवस्था ठीक है, मानसिक स्थिति भी अच्छी है, वातावरण अनुकूल है, करने की भावना है, फिर भी अभी नहीं करते तो कल का क्या भरोसा है ? कौन कह सकता है कि आँख की जो पलक खुली है, वह फिर झपेगी या नहीं ? या झपी हुई पलक फिर खुल सकेगी या नहीं ? चलने को तैयार हुए और एक कदम रक्खा, किन्तु दूसरा कदम रख सकोगे या नहीं ? जीवन क्षणभंगुर है। इसका भरोसा करके किसी सत्कर्म को आगे के लिए टालना विचारशीलता नहीं है। इसीलिए भगवान् ने कहा—

समयं गोयम : मा पमायए।

—उत्तराध्ययन।

अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

जो सोया है उससे कहो कि जागो ! जो जागा है उससे कहो कि उठ खड़े होओ। जो खड़ा हो गया उससे कहो कि चलने लगो। जो चलने लगे उससे कहो कि मंज़िल पर पहुँचो ! कोई भी साधक हो, उससे कहो कि अपनी मंज़िल तय करो, क्यों सोये पड़े हो ? यह जीवन सोने के लिए नहीं है। तुम्हारे जीवन में जो प्रेरणा है; उसके लिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। इस प्रकार इस वाक्य में जो बात है वही बात हमें इसमें मिलती है:—

मा पडिबंधं करेह !

जब आपकी आत्मा में कोई शुभ संकल्प आवे और मन कहे कि करूँगा। तो उस समय अपने मन से कहो—देर मत करो।

यही बात अपने लिए और यही दूसरों के लिए कहो। अपनी आत्मा को भी क्रियाशील बनाओ और दूसरों को भी क्रियाशील बनाओ। अपने को भी जगाओ और दूसरों को भी जगाओ। स्वयं अप्रमत्त होकर अपने लक्ष्य की ओर चलो और दूसरों को भी अप्रमत्त बना कर चलने की प्रेरणा दो।

दान का प्रश्न हो तो दे डालो। आत्मा से कहो—हे आत्मन् ! देर का काम नहीं है। ब्रह्मचर्य की वृत्ति हो तो कहो—देर करना अभीष्ट नहीं है। तपस्या या साधना की बात हो तो आत्मा को आवाज़ दो कि विलम्ब असह्य है, देर मत करो।

तुम जंगल में लेटे हो और सामने से शेर आता दिखाई दे तो क्या एक झपकी और लेने की सोचोगे ? या उसी समय आत्मरक्षा के लिए दौड़ोगे ? तुम्हारा कोई साथी सोया पड़ा होगा तो उसे उसी समय जगाओगे या सोता रहने दोगे ? उस समय देर नहीं करोगे। उस समय आपकी सारी शक्ति जागृत हो जायगी और कहोगे—देर मत करो।

यही बात साधना के संबंध में भी समझो। मौत का शेर हमारे सामने खड़ा है। ज़रा भी प्रमाद किया और सोते पड़े रहे तो हम उसके ग्रास बन जाएँगे। इसलिए हर क्षण अपने जीवन को संदेश दो कि—'देर मत करो।'

भारतीय संस्कृति में चार आश्रमों को स्थान दिया गया है और चार वर्णों को भी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चार वर्ण हैं। इन चार वर्णों में समाज का वर्गीकरण किया गया है। हमारे यहाँ कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने वर्ण-व्यवस्था कायम की थी। भगवान् ऋषभदेव ही हमारे यहाँ 'मनु' कहलाते हैं। कुछ भी हो, वर्ण व्यवस्था भारत में सर्वमान्य रही है और समाज की सुव्यवस्था के लिहाज से वह बड़ी उपयोगी चीज़ थी। मगर आज तो वह व्यवस्था लगभग नष्ट हो चुकी है और भारतीय जन उसके मुर्दे को ही गले लगाये फिरते हैं! यही कारण है कि उससे हमारा कोई कल्याण नहीं हो रहा है। परन्तु जब वह अपने असली रूप में प्रचलित थी, तब उसकी बड़ी उपयोगिता थी।

कल्पना कीजिए, किसी जगह सब लोग गारा ही गारा उठाने वाले हों, ईंट बनाने वाले और उठाने वाले ही हों और राज न हो, मकान चुनने की कला जानने वाला कोई न हो तो क्या मकान बन जायगा ? गारे का ढेर लग सकता है और ईंटों का पहाड़ बन सकता है, किन्तु बुद्धि और प्रतिभा के अभाव में मकान नहीं बन सकता।

तो समाज के भवन का निर्माण करने के लिए भी एक ऐसा वर्ग चाहिए जो बुद्धि वाला हो, सोचा करता हो, चिन्तन किया करता हो, समाज की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं और वे किस प्रकार पूर्ण की जा सकती हैं, इस बात की विचारणा करता रहे, और जो समाज के उत्थान और पतन को बारीक निगाह से देखता रहे, उनके कारणों की मीमांसा करे और उत्थान के उपायों को अमल में लाने की प्रेरणा देता रहे और पतन के कारणों से सावधान करता रहे। और यही वर्ग वह वर्ग है जो जनता को शिक्षा देता है, सूचना देता है और उसके नैतिक उत्थान के लिए आवश्यक चिन्तन करता है। इस प्रकार यह वर्ग समाज-शरीर का मस्तिष्क है। शरीर में मस्तिष्क का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मस्तिष्क खराब हो जाता है तो शरीर का कोई मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार समाज में बुद्धि वाले, चिन्तन करने वाले लोग न रहें तो समाज का शरीर पागलों का शरीर बन जाय। फिर वह ठीक रूप में काम भी न कर सके। इसीलिए इस वर्ग की समाज को

नितान्त आवश्यकता है और इस चिन्तनशील वर्ग को हमारे यहाँ ब्राह्मण-वर्ग या ब्राह्मण-वर्ण कहते हैं। तो ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं, वृत्ति से है।

क्षत्रियवर्ग को समाज-शरीर की भुजाएँ समझिए। शरीर पर हमला होता है तो सबसे पहले भुजाएँ ही उसका प्रतीकार करती हैं। इस प्रकार जनता की और देश की रक्षा का भार जिस वर्ग पर डाला गया था, वह क्षत्रियवर्ण कहलाया।

समाज में वैश्यों की भी बड़ी उपयोगिता है। वे समाज-शरीर के पेट हैं। मनुष्य की थाली में जो भोजन है, उसे उठाकर पेट में डालता है। वह भोजन पेट में जमा होता है; किन्तु सिर्फ़ पेट के ही काम नहीं आता है। पेट सारे शरीर में उसका वितरण करता है। वह मांस और रक्त आदि के रूप में सारे शरीर में रमण करता है। कदाचित् पेट कहे कि मुझे तो मिल गया सो मिल गया। अब वह और किसी को नहीं मिल सकता। हाथ-पैर सूखें तो सूखें, सारे शरीर को कुछ नहीं मिल रहा है तो न मिले! मैं तो अपनी चीज़ अपने तक ही सीमित रक्खूँगा! तो ऐसी स्थिति में हाथ-पैर तो गिरेंगे ही, किन्तु पेट भी क्या सुरक्षित रह जायगा? पेट को अपनी रक्षा करनी है तो जो कुछ उसे मिला है उसे आवश्यकता के अनुसार अपने पास रख कर दूसरों को भी देना पड़ेगा।

इसी प्रकार वैश्य, धन या लक्ष्मी को समाज की आव-

श्यकता के अनुसार इकट्ठा करता है और न्यायपूर्वक उसका वितरण भी करता है। यदि वह ठीक ढंग से बाँट रहा है तो समाज-रूपी शरीर भी सुव्यवस्थित रूप से चलता है और वैश्य का भी काम चलता है।

शूद्र समाज के पैर माने गये हैं। पैर समूचे शरीर के भार को उठा कर चलते हैं और शूद्र भी सारे शरीर की सेवा करता है।

तो जिस प्रकार समाज की सुव्यवस्था के लिए चार वर्णों की पद्धति चली, उसी प्रकार वैदिक धर्म में जीवन की व्यवस्था के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, और सन्यासाश्रम—यह चार आश्रम बतलाये गए।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्ण-व्यवस्था को तो जैन-धर्म ने स्वीकार किया और भगवान् ऋषभदेव के द्वारा उसकी स्थापना होना माना, किन्तु उपर्युक्त चार आश्रमों की व्यवस्था को जैनधर्म ने स्वीकार नहीं किया। किसी भी जैनागम में आश्रम-व्यवस्था का वर्णन और समर्थन नहीं किया गया है। इसका क्या कारण है?

एक वैदिक धर्मावलम्बी भाई मिले। वह कहने लगे—हमारे यहाँ तो कदम-कदम पर आश्रमों की बात आती है; किन्तु आपके यहाँ आश्रमों का पता ही नहीं है।

मैंने उनसे कहा—मौत वश में हो तो हम आश्रमों का

निर्माण करें। जब पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम में व्यतीत हो चुकेंगे, तब कहीं वानप्रस्थाश्रम का नंबर आएगा! किन्तु जीवन का क्या पता है? इसीलिए जैनधर्म ने आश्रम-व्यवस्था को अङ्गीकार नहीं किया।

जैन-धर्म तो महत्त्वपूर्ण चिन्तन लेकर आया है। वह कहता है—तू अपनी शक्ति देखले। तू ब्रह्मचर्याश्रम में रहने योग्य है या गृहस्थाश्रम में? वानप्रस्थाश्रम में रह सकता है या संन्यासाश्रम में? तेरी क्षमता जिस आश्रम में रहने की आज्ञा देती हो, तू उसी में रह सकता है। यह नहीं कि आज तू सन्यासी बनना चाहता है और आश्रम-व्यवस्था अनुमति नहीं देती और आदेश करती है कि—नहीं, पहले तुझे पच्चीस-पचास वर्ष दूसरे आश्रमों में बिताने होंगे और उसके बाद तू सन्यासी बन सकेगा! लेकिन जब कल का ही भरोसा नहीं है और पल भर का भी विश्वास नहीं है तो पच्चीस-पचास वर्ष की प्रतीक्षा का क्या अर्थ है? ऐसी स्थिति में आश्रम-व्यवस्था की भी क्या उपयोगिता है? कहा है—

> काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
> पल में परलय होयगी, बहुरि करेगा कब॥

जो कल करना चाहते हो, उसे आज ही करलो। कल का क्या पता है? जो घड़ी व्यतीत हो रही है, वह लौट कर नहीं आती। इन बन्धनों को कब तक बाँधे रहोगे?

भगवान् महावीर ने तीस वर्ष की भरी जवानी में संसार

का परित्याग किया। वे इस आश्रम-व्यवस्था के चक्कर में फँसे रहते तो पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम में, पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम में और पच्चीस वर्ष वानप्रस्थाश्रम में, इस प्रकार पचहत्तर वर्ष, व्यतीत करने के पश्चात् कहीं साधु बनने का अवसर पाते, जब कि उनकी कुल आयु बहत्तर वर्ष की ही थी! कहो, ऐसी स्थिति में वे विश्व को अहिंसा और सत्य का अपूर्व प्रकाश किस प्रकार दे सकते थे?

मेरी बात सुनकर उस भाई ने कहा—आपकी बात तो यथार्थ लगती है। कौन जान सकता है कि किसकी ज़िंदगी कितनी है?

लुहार ने लोहे को गर्म किया और लोहा लाल होकर आग में से निकला। लुहार पास बैठे हुए साथी से कहता है—ज़ल्दी इस पर चोट लगा दे! ऐसे समय में साथी अगर हुक्का गुड़गुड़ाता हुआ कहे कि तम्बाकू मज़े पर आ रहा है: एक कश और लगा लूँ—अभी चोट लगाता हूँ! तो, क्या यह उस साथी की बुद्धिमत्ता मानी जायेगी? जब तक वह हुक्का गुड़गुड़ाएगा तब तक तो लोहा ठंडा पड़ जावेगा। फिर उस पर चोट लगाने से भी क्या परिणाम निकलेगा? लोहा जब गर्म हो तभी उस पर चोट पड़नी चाहिए, तभी उससे इच्छानुसार चीज़ बनाई जा सकती है।

इसी प्रकार जीवन में जब आन्तरिक प्रेरणा और स्फूर्ति की गर्मी हो, तभी कुछ न कुछ कर डालो। संकल्प की गर्मी

आने पर अगर हुक्का गुड़गुड़ाने बैठ गये तो जीवन ठंडा पड़ जायगा और फिर मामला खत्म है!

अभी दिल्ली में दया-दानप्रचारिणी संस्था की स्थापना हुई। उसके विषय में पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने बतलाया कि अमुक-अमुक निर्णय किये गये। तब मैं ने यही कहा कि समाज में कुछ करना है, किसी संस्था को चलाना है और उसके द्वारा जगत् को कुछ देना है, तो फिर विलम्ब काहे का? किसी भी योजना को, जो सुविचारपूर्वक तैयार की गई है और जिसको सर्वतोभावेन स्वीकार कर लिया गया है, भविष्य के भरोसे छोड़ देने का अर्थ क्या है? बच्चा पैदा हुआ और उस समय मंगलगीत नहीं गाये गये और बधाइयाँ नहीं बाँटी गई और फिर कभी के लिए सोच कर रह गये तो रह ही गये! फिर कभी बाँटने का अर्थ भी क्या है? जब बीमारी हो तो दवा न दो और भविष्य में दवा देने की सोचो! यह सब क्या चीज है? उचित तो यह है कि कोई भी संस्था बनाने से पहले सौ बार सोच लो और अपनी शक्ति को तोल लो। इसके बाद जब संस्था की स्थापना करो तो उसको कामयाब बनाने में सारी शक्ति लगा दो! ढील मत करो। उस समय वातावरण बना हुआ होता है, जागृति होती है, भावनाएँ प्रबल रहती हैं। गर्म लोहे पर चोट पड़ेगी तो वह इच्छानुसार बन जायगा। दो-चार महीने बाद झोली लेकर जाओगे तो कुछ नहीं बनने वाला है। तात्पर्य यह है

कि चाहे कोई संस्था हो या अन्य कोई शुभ-कार्य हो, उसमें विलम्ब करना योग्य नहीं है। भगवान् का मार्ग हमें यही शिक्षा देता है कि शुभ-कार्य में ढील न करो। शुभस्य शीघ्रम्। नीतिकारों ने भी इसी बात की पुष्टि की है—

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्।

कोई भी शुभ-कार्य जब चटपट और तड़ाक-फड़ाक नहीं कर लिया जाता है तो काल उसका मज़ा बिगाड़ देता है। काल का व्यवधान पड़ जाने पर उस कार्य का रस चला जाता है।

मैं ने रामकृष्ण परमहंस का जीवन चरित्र पढ़ा। उसमें लिखा था कि उनके पास एक साधक आया। कहने लगा—मुझे संसार छोड़ना है। मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ और आपकी सेवा में ही रहना चाहता हूँ। मैं एक हज़ार की थैली लाया हूँ और इस कमाई को भी आपके चरणों में अर्पण करना चाहता हूँ। आप इसका जैसा उपयोग करना चाहें, करें।

परमहंस ने कहा—मैं यह ठीक समझता हूँ कि इस थैली को गंगा मैया की भेंट कर आओ।

साधक ने चकित होकर पूछा—गङ्गा मैया को?

परमहंस ने दुहराया—हाँ, गङ्गा मैया को यह थैली अर्पण कर आओ।

बेचारा गङ्गा मैया की तरफ चला। गुरु की आज्ञा जो

हुई थी ! किसी तरह अनमने भाव से, गङ्गा के किनारे बैठ कर, उसने थैली का मुँह खोला और उसमें से एक रुपया निकाला और फैंक दिया। फिर दूसरा निकाला और उसे भी फैंक दिया ! इस प्रकार एक-एक करके उसने सब रुपये फैंक दिये। खाली थैली लेकर परमहंस के पास आया और बोला—सारे रुपये गङ्गाजी में डाल आया हूँ।

परमहंस ने पूछा—बहुत देर लगी फैंकने में ? इतनी देर क्यों लगी ?

मैंने एक-एक रुपया निकाला और फैंका। इसी से देर हो गई।

परमहंस बोले—तब तुम हमारे काम के नहीं हो।

साधक समझ रहा था—मैं ने बड़ा त्याग किया है और गुरूजी मुझ पर अत्यन्त प्रसन्न होंगे। किन्तु जब उसने गुरुजी का निर्णय सुना तो भौंचक्का-सा रह गया ! वह प्रश्न-पूर्ण दृष्टि से गुरुजी की ओर देखने लगा।

परमहंस ने समझाया—जो काम तुम्हें एक बार में कर लेना चाहिए था, उसे तुमने हजार बार में किया। जितनी देर में एक रुपया फैंका, उतनी ही देर में शेष ९९९ रुपया भी फैंक सकते थे। फिर सब के सब एक साथ क्यों नहीं फैंक दिये ? तो, अभी तुम्हारी ममता मरी नहीं है। तुम जहर को जल्दी नहीं त्याग सकते। पूरी जागृति अभी नहीं आई है। जब तुमने माया को जहर समझ लिया और उसे फैंकने

चले तो रुक-रुक कर क्यों ? जो रास्ता एक कदम में तय किया जा सकता है, उसे हज़ार कदम में क्यों तय किया जाय ? तुम्हारे चित्त में अभी दुविधा है। इसी कारण तुमने रुपयों को फैंकने में देर की। देर करने वालों की यहाँ गुज़र नहीं।

जब मैंने यह बात पढ़ी तो सोचा कि भगवान् महावीर का संदेश वहाँ भी पहुँचा है।

वास्तव में हमें जो कदम उठाना है, वह अभी क्यों न उठा लें ? अभी अँगड़ाई ले रहे हैं। अभी साफ़ा बाँध रहे हैं, अब नाश्ता कर रहे हैं और इस प्रकार एक कदम के बदले हज़ार कदम नाप रहे हैं। इसका अर्थ यही है कि अभी वह चेतना जागी नहीं है, जो सिंह के सामने आने पर जाग उठती है। सिंह सामने आता देखता है तो क्या कोई अंगड़ाई लेने को रुकता है ? साफ़ा बाँधने की चिन्ता करता है ? उस समय साफ़ा किधर ही पड़ा होगा या बगल में दबा होगा और आप उसी समय भाग खड़े होंगे। उस समय हज़ार कदम का रास्ता एक क़दम में नापने की कोशिश करेंगे।

धन्ना और शालिभद्र ने कौन-सा मंत्र जपा था ? यही तो—

मा पडिबंधं करेह !

शालिभद्र प्रतिदिन एक-एक नारी का परित्याग कर रहे थे। सुभद्रा उनकी बहिन थी। यह खबर सुभद्रा को मिली।

भाई के संसारत्याग की खबर सुन कर उसे दुःख हुआ।

कथाकार कहते हैं, सुभद्रा अपने पति धन्ना सेठ को स्नान करा रही थी। उसे शालिभद्र का स्मरण हो आया और आँखों से आँसू टपकने लगे। आँसू की एक बूँद धन्नाजी की पीठ पर गिरी। गरम बूंद गिरी तो उन्होंने सुभद्रा की तरफ देखा और देखा कि सुभद्रा रो रही है।

धन्ना ने कहा—सुभद्रे! तुम रो रही हो? इस घर में आने के बाद तुम्हारी आँखों में कभी आँसू नहीं देखे गये! इस घर में कभी दुख और कभी सुख भी रहा है, कभी-कभी कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ भी आई हैं, मगर तुम्हें कभी रोते तो नहीं देखा। जब से तुम इस घर में आई हो, तुमने मेरा प्रेम पाया है। फिर आज रोने का क्या कारण है?

सुभद्रा बोली—आपके रहते मुझे क्या दुःख हो सकता है, भला? आप मेरे सुख हैं, सौभाग्य हैं, सब कुछ हैं। मुझे केवल एक ही दुख है और वह यह कि मेरा भाई दीक्षा लेना चाहता है। अब मेरे मायके में कोई नहीं रहेगा। वह एक-एक पत्नी को रोज त्याग रहा है और जल्दी ही घर छोड़कर भगवान् के चरणों में दीक्षित हो जाएगा।

भाई की चिन्ता बहिन के मन को व्याकुल कर रही है! सुभद्रा सोचती है—मेरे एक ही तो भाई है! जब जाती थी, चहल-पहल हो जाती थी। अब सूने घर में जाऊँगी तो कौन

मुझे बहिन कहकर पुकारेगा ? मैं किसको 'भैया' कह कर सँबोधित करूँगी ?

धन्ना बड़े तेजस्वी और साहसी थे। उन्होंने सुभद्रा की बात सुनी तो कहा—क्या शालिभद्र दीक्षा लेगा ? और वह एक स्त्री का रोज त्याग कर रहा है ? इस तरह प्रत्येक दिन एक-एक स्त्री को छोड़ने वाला कहीं दीक्षा ले सकता है ? यह वैराग्य लाया जा रहा है या वैराग्य का नाटक खेला जा रहा है ? दीक्षा ले रहा है या तमाशा कर रहा है ? भगवान् कहते हैं—

मा पडिबंधं करेह !

और शालिभद्र कल और परसों कर रहा है। कब बत्तीस नारियों का परित्याग करेगा और कब दीक्षा लेगा ? उसे बत्तीस दिन की जिन्दगी की गारन्टी किसने लिख दी है? क्या वह जानता है कि वह दिन वह देख सकेगा ? यह त्याग और वैराग्य का मार्ग नहीं है। त्याग और वैराग्य का मार्ग है—

मा पडिबंधं करेह !

धन्ना की बात में सचाई तो थी, किन्तु सुभद्रा को उससे बड़ी चोट पहुँची। उसका दिल पहले ही दुखी था, धन्ना की बात से वह और अधिक दुखी हो गई। उसने ताने के स्वर में कहा—"पर-उपदेश-कुशल बहुतेरे।" फ़िलासफी छाँट देना सहज है, करना कठिन होता है। त्याग करने वाले ही जानते

हैं कि कैसे त्याग किया जाता है। मेरा भाई एक-एक नारी को तो छोड़ रहा है; किन्तु एकदम छोड़ने का उपदेश देने वाले एक को भी नहीं छोड़ रहे हैं। वे घर में बैठे हैं! प्रियतम! शालिभद्र का त्याग साधारण नहीं है। उसकी अवज्ञा न कीजिए।

सुभद्रा का ताना सुनते ही धन्ना एकदम खड़े हो गए। जिस ग्रन्थकार ने धन्ना जी का चरित लिखा है, उसने कलम को मात कर दिया है। धन्ना जी जैसे थे, वैसे ही चल पड़े। धोती थी तो वदन पर धोती ही रही; उन्होंने अँगरखा पहन लेने की भी चिन्ता नहीं की। घर के दरवाजे खुले हैं तो खुले ही पड़े हैं। जो चीज़ जहाँ पड़ी है वहीं पड़ी है। किससे क्या लेन-देन है; कोई वास्ता नहीं है। दुकान में क्या हो रहा है, कोई परवाह नहीं है! उन्होंने एक भी चीज़ इधर से उधर नहीं रक्खी। वाहर जाने योग्य वेष की भी चिन्ता नहीं की। शरीर पर स्नान का पानी लगा है तो उसे पौंछने का भी ख्याल नहीं किया। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—आज से नहीं, अभी से तुम मेरी बहिन और मैं तुम्हारा भाई!

वह धन्ना, जिसने संसार की करारी से करारी चोटें सहन कीं और जिसने कितनी ही वार सोने के महल बनाये और बिगाड़े। ऐसे ही उस धन्ना सेठ के मन में इस एक वाक्य ने ही जागृति उत्पन्न कर दी; अपूर्व प्रेरणा भर दी।

'कहना सरल और करना कठिन है' इस वाक्य को उलट देने के लिए वह उसी क्षण घर से बाहर निकल गए।

वीरों की वाणी यों ही नहीं निकला करती। उनसे कोई बात कहलवाना चाहो तो हजार बार प्रयत्न करोगे तब भी नहीं कहेंगे। और जिस दिन कहदी—हाँ भर ली कि समझो वह बात हो गई। उनके लिए कहना कठिन और करना सरल होता है। उनका कहना ही करना है।

तो धन्ना जी बीच बाजार में होकर चले और शालिभद्र के घर पहुँचे। नीचे से ही आवाज लगाई—शालिभद्र! तुम्हें वीर प्रभु के चरणों में चलना हो तो—

मा पडिबंधं करेह !

क्यों देर कर रहे हो? माता और पत्नियां को रुलाना है तो एक ही बार रुला दो। दिन पर दिन बीत रहे हैं। कैसा है तुम्हारा वैराग्य?

शालिभद्र ने यह आवाज सुनी। वह जागे और उठ खड़े हुए।

तो भगवान् का दूसरा सिद्धान्त है कि सोच लो, समझ लो, अपनी शक्ति को जाँच लो और जब लहर आ जाय तो विलम्ब न करो, पल भर की भी देरी मत करो। जो करना है, कर ही डालो। उसमें—मा पडिबंधं करेह !

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
३०-८-५०

जीवन के छेद

यह श्रीउपासकदशांग सूत्र है और आनन्द का वर्णन आपके सामने चल रहा है। भगवान् महावीर के चरणों में पहुँच कर आनन्द ने जब भगवान् की वाणी सुनी और जब अमृत की धारा ग्रहण की तो उसे असीम आनन्द हुआ। उसने विचार किया कि मेरा क्या कर्त्तव्य है? ज्यों ही उसे अपने कर्त्तव्य का भान हुआ, वह अपने जीवन का निर्माण करने के लिए, कल्याण करने के लिए उद्यत हो गया।

भगवान् ने आनन्द के समक्ष जो प्रवचन किया था, वह सिर्फ़ आनन्द के लिए ही नहीं था। चतुर्विध संघ को लक्ष्य करके भगवान् ने तो प्रवचन किया था। साधु, साध्वी,

श्रावक और श्राविका—यह चारों प्रकार के साधक संघ में सम्मिलित होते हैं—और ये ही सब मिलकर संघ कहलाते हैं। तीर्थंकर भगवान् संघ के नायक हैं। संघ को तीर्थ भी कहते हैं और तीर्थ का निर्माण करने के कारण भगवान् 'तीर्थंकर' भी कहे जाते हैं।

संघ और संघनायक में आपस में क्या सम्बन्ध है, यह विचारणीय है। हम अपनी परम्परा के अनुसार जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो एक सुन्दर कल्पना हमारे मस्तिष्क में जाग उठती है।

कल्पना कीजिए, एक बड़ा समुद्र है। उसे पार करने के लिए नावों का एक बड़ा बेड़ा खड़ा है और प्रत्येक नाविक अपनी-अपनी नाव को लेकर उस महासमुद्र में घुसने के लिये है। तब बेड़े का कमाण्डर मल्लाहों को आदेश देता है कि अपनी-अपनी नाव को तैयार कर लो। अर्थात् अपनी-अपनी नाव की चौकसी कर लो और किसी की नाव में छेद हों तो उसे बन्द कर लो। क्योंकि जिन नावों में छेद होंगे, वे समुद्र को पार नहीं कर सकेंगी।

कमाण्डर का यह आदेश सुन कर कुछ मल्लाह अपनी-अपनी नाव दुरुस्त करते हैं, नाव में जहाँ कहीं छेद हो गये हैं, उन्हें बन्द कर देते हैं; मगर अनेक इस ओर ध्यान ही नहीं देते और सोचते हैं, हमारी नावें तो ठीक ही हैं। और कमाण्डर का आदेश मिलते ही सभी नावें समुद्र में छोड़ दी

जाती हैं। तो, जिन नावों के छिद्र भली प्रकार से बन्द कर दिये गये हैं, वे नावें अपने लक्ष्य पर पहुँच जाती हैं।

मगर जिन नावों के छेद बन्द नहीं किये गये, उनमें पानी भरता रहता है और वे समुद्र के पार नहीं पहुँच पातीं। तो, वे समुद्र में डूब जाती हैं।

इसी प्रकार भगवान् महावीर एक विशाल जन-समूह या संघ के नायक हैं—कमाण्डर हैं। उन्होंने संघ रूपी बेड़े से कहा—संसार के इस विशाल सागर को पार करना है तो अपनी-अपनी नाव को ठीक कर लेना चाहिये। अर्थात् छेद बन्द कर लेने चाहिये। छेद वाली नावें संसार-समुद्र को पार नहीं कर सकती हैं।

साधुत्व को अंगीकार करना और श्रावकत्व को अंगीकार करना भी जीवन की नाव के छेद बन्द करना है। इस प्रकार छेद बन्द करके जीवन की नौका जब संसार-समुद्र में छोड़ दी जाती है, तो वह पार हो जाती है। और छेदों को बन्द किये विना पार होना सम्भव नहीं है।

यह प्रश्न, जो मैंने आपके सामने रक्खा है, उस समय भी उपस्थित हुआ था, जब केशी कुमार और गौतम का महान् सम्मिलन हुआ था।

केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—बड़ा भारी समुद्र और लोग उसमें अपनी-अपनी नावें खे रहे हैं, किन्तु नावें तैर नहीं रही हैं, डूब रही हैं। मगर देखते हैं कि आपकी

नाव ठीक ढङ्ग से तैरती चली जा रही है और वह महासमुद्र की लहरों के ऊपर से भी ठीक ढङ्ग से तैर रही है। इसका क्या कारण है?

अण्णवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावइ।
जंसि गोपयमारूढो, कहं पारं गमिस्ससि ?

—उत्तराध्ययन,

यह संसार बड़ा भारी समुद्र है और अनन्त काल से हमारी नौका इसमें भटक रही है, डूब रही है। हे गौतम! आप जिस नाव पर सवार हैं, वह किस कारण किनारे की ओर बढ़ती चली जा रही है?

केशी स्वामी का प्रश्न सुन कर गौतम स्वामी बोले—

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा य निस्साविणी नावा, सा हु पारस्स गामिणी॥

—उत्तराध्ययन

दूसरों की नौकाएँ डूब रही हैं, क्योंकि उनमें छेद हैं। छेदों के द्वारा उन नावों में पानी भर-भर कर ऊपर आ रहा है और वे डूब रही हैं। किन्तु मैंने अपनी नौका के छेद बन्द कर लिये हैं, इसी कारण वह तैरती हुई दिखाई दे रही है।

यह सुन कर केशी स्वामी पूछते हैं—वह समुद्र कौन-सा है और नौका कौन-सी है?

तो, गौतम स्वामी कहते हैं—

सरीरमाहु नाविति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥

—उत्तराध्ययन

अर्थात्—संसार समुद्र है, शरीर नौका है और इसमें रहा हुआ आत्मा नाविक (मल्लाह) है।

आत्मा रूपी मल्लाह की जो नौका अव्रत रूपी छेदों से भरी पड़ी है, जिसमें आस्रवरूपी जल भर-भर कर इकट्ठा हो रहा है, वह डूबेगी नहीं तो क्या पार लगेगी? वह तो डूबने को ही है!

गौतम स्वामी कहते हैं—मैंने साधना के द्वारा, व्रत-प्रत्याख्यान के द्वारा और संयम के द्वारा अपनी नौका के छेदों को बन्द कर दिया है। मैंने संवर का आराधन किया तो उसमें छेद नहीं रहे और छेद नहीं रहे तो वह पार हो रही है।

मूलपाठ में शरीर को नौका कहा है और मैं जीवन को नौका कह रहा हूँ। आप सोचेंगे कि यहाँ शब्दों का ही हेर-फेर है अथवा भावों का भी? तो, इस पर जरा विचार कर लें।

तो साहब, यह शरीर नौका है। इसमें काम, क्रोध, मद, अहंकार, मोह, लोभ, हिंसा, असत्य आदि का आस्रव रूपी जो जल आ रहा है, तो क्या शरीर के द्वारा ही आ रहा है? क्या मन के द्वारा आस्रव नहीं होता है? मन से भी

आस्रव होता है। शास्त्रकार कहते हैं कि इस मन के द्वारा इतना पानी आता है और आस्रव का इतना चढ़ाव होता है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

औरों की बात जाने दीजिए। तन्दुल मत्स्य का शरीर किस गिनती में है? एक चावल जितनी काया होती है उसकी। मगर मन के ही द्वारा वह इतना आस्रव इकट्ठा कर लेता है कि सातवें नरक तक चला जाता है। एक अन्तमुहूर्त्त की उसकी ज़िन्दगी और चावल के बराबर शरीर, फिर भी मन के द्वारा वह गहरे से गहरे नरक का निर्माण कर लेता है।

यह एक ऐसा उदाहरण है जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण ढङ्ग से गाया जाता है। इससे भलीभाँति समझ में आ जाता है कि मन के द्वारा कितना तीव्र आस्रव हो सकता है।

जब हमारी वाणी गड़बड़ा जाती है—क्रोध, मान, माया और लोभ के आवेश में वचन निकलते हैं, तो कैसी आग लग जाती है?

आपने महाभारत की लड़ाई का जिक्र तो सुना होगा, पर उसके मूल कारणों पर भी कभी विचार किया है? भाइयों-भाइयों के उस भयंकर विनाशकारी युद्ध का असली कारण क्या था? हम देखते हैं कि वचनों का अविवेक ही उसके मूल में था। दुर्योधन और द्रौपदी ने वचनों का ठीक

तरह प्रयोग नहीं किया और अयोग्य शब्दों का प्रयोग किया तो वह आग सुलगती-सुलगती प्रचण्ड ज्वालाओं के रूप में परिणत हो गई और भारत की एक बड़ी शक्ति उन ज्वालाओं में भस्म हो गई।

इस प्रकार जब मन और वाणी से भी आस्रव होता है और पापों का आगमन होता है तो शरीर को ही नाव क्यों बतलाया गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें देखना चाहिए कि मन रहता कहाँ है ? और वचन कहाँ हैं ? तो, मन और वचन की स्थिति शरीर में ही है। यह जो हमारा शरीर है, इसी में मन, वचन और काम हैं। और इन तीनों में ही जीवन की नाव बह रही है। इस प्रकार मन, वचन और काम में जीवन व्यतीत हो रहा है। हमारे मन की प्रवृत्तियाँ भी जीवन हैं, हमारे वचन भी हमारे जीवन के अंग हैं और काया की प्रवृत्तियाँ भी जीवन से अलग नहीं हैं। तो इन तीनों की समष्टि का नाम ही जीवन है।

आप मन से सोचते और विचार करते हैं, यह भी एक प्रवृत्ति है। वचन बोलते हैं, यह भी एक प्रवृत्ति है और शरीर से नाना प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं, यह भी एक प्रवृत्ति है। आत्मा के पास यह तीनों शक्तियाँ हैं। मन, वचन और काम के द्वारा आत्मा का व्यापार होता है।

जैन पुराणों में एक उदाहरण आता है, विष्णुकुमार मुनि

का। वैदिक पुराणों में भी इसी से मिलती-जुलती एक कथा है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

बलि एक राजा था और राक्षस था। वह बड़े-बड़े यज्ञ करता था। उसने ऐसे बड़े-बड़े यज्ञ किये और उसका पुण्य इतना बढ़ा कि देवता भी डरने लगे। उन्होंने सोचा—बलि इतना दान कर रहा है; धर्म कर रहा है और यज्ञ कर रहा है तो यह तो देवताओं का राज्य हथिया लेगा! यानी हमारे पुण्य से भी अधिक पुण्य उपार्जन कर लेगा तो हमारे ऊपर अधिकार जमा लेगा?

देवताओं ने मिलकर विचार किया और वे सब मिलकर विष्णु के पास पहुँचे। बोले—आपके सामने ही हमारा साम्राज्य तो दूसरे के हाथों में जाने ही वाला है। बलि इतना दान देता है और यज्ञ करता है कि उसका पुण्य बढ़ता चला जा रहा है। एक दिन हमारे सारे साम्राज्य पर उसका अधिकार हो जायेगा और हम धूल चाटते फिरेंगे।

और विष्णु ने उन देवताओं को आश्वासन देते हुए कहा—अच्छा, मैं प्रबन्ध कर दूँगा।

कहते हैं, तब विष्णु ने बौने का रूप बनाया, ब्राह्मण का वेष धारण किया और बलि राजा के दरबार में प्रवेश किया। वह राजा के सामने खड़े हुए तो राजा ने पूछा—क्या चाहिए, किस प्रयोजन से यहाँ आये हो?

बौने ब्राह्मण ने कहा—हमें क्या चाहिए? हमारे पास तो सभी कुछ है, किन्तु रहने की जगह नहीं है।

राजा बोला—जितनी चाहिए उतनी ले लो। कितनी जगह चाहिए?

बौने ने कहा—अधिक का क्या करना है। तीन पग ज़मीन बहुत होगी।

तब वलि ने कहा—यहाँ तक माँगने आये हो और सिर्फ़ तीन पग ही ज़मीन माँग रहे हो। कुछ और माँग लो।

बौना बोला—नहीं, और कुछ नहीं चाहिए। इतनी ज़मीन ही मेरे लिए बस है।

वलि—तो ठीक है। यही सही। तीन पग ज़मीन जहाँ पसंद हो, नाप लो।

उस समय विष्णु ने अपना विराट रूप बनाया तो चाँद और सितारों को छूने लगे। और शरीर बड़ा होगा तो पैर भी उसी परिमाण में बड़े होंगे। उन्होंने पृथ्वी के एक छोर पर एक पैर रक्खा और दूसरे छोर पर दूसरा पैर रक्खा, तीसरा कदम रखने की कहीं जगह न बची। तब, कहते हैं, तो तीसरा कदम उन्होंने वलि की छाती पर ही रख दिया।

इस प्रकार वलि को संसार से विदा होना पड़ा और देवताओं की रक्षा हो गई।

विष्णुकुमार की कथा भी बहुत कुछ इसी प्रकार की है। उसका मुख्य भाग तीनों कदमों में ज़मीन नापना वहाँ भी

वतलाया गया है। तो तीन कदमों में ज़मीन को नापने का यह जो ढँग है, वह तो पौराणिक है, अलंकारिक है। किन्तु हम अपने जीवन को देखें तो सारा संसार एक ही पिण्ड है और एक ही ब्रह्माण्ड है। आत्मा पिण्ड में रहती है। अतएव जो इसको अच्छा बनाते हैं, जीवन को पवित्र बनाते हैं, मन के छेदों को और वचन के छेदों को—जिनसे कि वासनाएँ आती हैं—बंद कर लेते हैं और काम के छेदों को जिनसे हिंसा होती है—बंद कर लेते हैं तो पिण्ड को नाप लिया जाता है। यही समग्र जीवन को तीन कदमों में नापना है। जो भी पाप आते हैं, इन्हीं तीन योगों से आते हैं। मन, वचन और काया का योग अपने आप में बड़ा भारी आस्रव है। जब तक हम इन तीन पर अधिकार नहीं कर लेते, पिण्ड पर भी अधिकार नहीं कर सकते। और जो अपने ही जीवन पर अधिकार नहीं कर सकते, वे सम्पूर्ण विश्व पर कैसे अधिकार कर सकेंगे ?

तीर्थंकरों को तीन लोक का नाथ कहते हैं। इसका क्या अर्थ है ? क्या भगवान् स्वर्ग, नरक, पशुओं, पक्षियों आदि सब के नाथ हैं ? वे सब के स्वामी कैसे हो गये ? पहले वे अपने जीवन के स्वामी हुए और फिर पिंड के स्वामी हुए। जो जीवन और पिण्ड का स्वामी होता है, वही ब्रह्माण्ड का स्वामी हो जाता है। कहा भी है—

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

अर्थात्—जो पिण्ड में होता है वही ब्रह्माण्ड में होता है, और जो ब्रह्माण्ड में होता है, वही पिण्ड में होता है। यह दर्शन का सिद्धान्त है।

जो तू चाहता है कि मेरा विश्व पर साम्राज्य हो तो पहले पिण्ड पर नियंत्रण कर। अपने जीवन पर साम्राज्य स्थापित कर। अपना मन नियंत्रण में नहीं है, जबान काबू में नहीं है और काया पर भी कब्जा नहीं है, तो तू क्या विश्व पर कब्जा कर सकेगा? जो मन का विजेता है वही संसार का विजेता है। जो मन से हार गया, वह संसार से भी हार गया।

तो मन, वचन और काम, यही आत्मा की तीन ताकतें हैं और जब आत्मा प्रवृत्ति के क्षेत्र में आती है; तो सीधी प्रवृत्ति नहीं कर सकती है। वह मन की लाठी उठाती है और वचन तथा काया का सहारा लेती है और इन्हीं के जरिये अपनी प्रवृत्ति करती है। आत्मा मन की, वचन की और काया की नाली में बह कर हरकत करती है। यही तीनों छेद हैं।

इसीलिए भगवान् ने उत्तराध्ययन में कहा है कि यह शरीर नौका है और आत्मा मल्लाह है और जब वह मल्लाह शरीर रूपी छेदों को बन्द कर देता है तो वह नाव पार हो जाती है। यहाँ शरीर का मतलब जीवन है। यहाँ मन, वचन और काया की समष्टि के अर्थ में शरीर शब्द का प्रयोग

किया गया है। आशय यह है कि जीवन की नाव अगर छेद वाली है, तो वह पार नहीं हो सकती।

तो भगवान महावीर ने संघ को आज्ञा दी—हे साधुओ, और हे साध्वियो। तुम अपनी जीवन-नौका को अगर पार ले जाना चाहते हो तो विकार, वासना और आसक्ति रूपी छेदों वाली नाव को लेकर मत चलो। चलोगे तो पार नहीं होओगे।

तुम अपनी वाणी से असत्य बोल देते हो, मजाक में असत्य बोल देते हो, राग, द्वेष, क्रोध और लोभ से असत्य बोल देते हो, तुम्हारी वाणी समाज में, परिवार में और घर में, जहाँ कहीं भी है, छेद डालती है और उन छेदों से नाव भरी पड़ी है। उन छेदों से पाप ही पाप और वासना ही वासना उमड़ी चली आ रही है। तो ऐसी नाव कैसे पार लगेगी ?

तुम्हारा शरीर भी तुम्हारे नियंत्रण में नहीं है। तुम्हारे हाथ, तुम्हारे पैर और कोई भी अंग तुम्हारे काबू में नहीं हैं। तुम अपनी असावधानी से कैसी-कैसी प्रवृत्तियाँ कर बैठते हो। कभी दूसरे की जिन्दगी को खतरे में डाल देते हो, कभी उसे समाप्त कर देते हो और कभी किसी को पीड़ा पहुँचाते हो। इस तरह तुम्हारा शरीर भी छिद्रों से भरा पड़ा है।

तुम्हारा मन भी तुम्हारे वश में नहीं है। शरीर और वचन की प्रवृत्ति तो कुछ मर्यादित है, मगर तुम्हारा मन तो यह

बैठा-बैठा ही आकाश और पाताल के कुलावे मिलाता है। कितने छिद्र भरे हैं उसमें। भगवान् ही जानें इतने छिद्रों के रहते तुम्हारी जीवन-नैया की क्या गति होने वाली है।

जीवन के छिद्र किस प्रकार बंद हो सकते हैं ? यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सच पूछो तो इस प्रश्न के उत्तर में समग्र साधना का सार समा जाता है। अपनी दृष्टि को विशुद्ध बनाना, श्रावक और साधु के व्रतों को अंगीकार करना, प्रमाद का परिहार करना, कषाय की वृत्तियों को नष्ट करना और योगों की चंचलता का निरोध करना, जीवन के छिद्रों को रोकना है। जितनी-जितनी मात्रा में यह छिद्र बंद होते चले जाएँगे, आपकी नौका संसार-सागर के दूसरी ओर अग्रसर होती चली जायगी।

पहले-पहले के गुणस्थानों के विकास में विलम्ब होता है, किन्तु आगे के गुणस्थान जब आते हैं, तो कितनी जल्दी तय किये जाते हैं ! ज्यों ही प्रमत्त-संयत के गुणस्थान को छोड़ा और अप्रमत्त-संयत का सातवाँ गुणस्थान आया और ऊपर चढ़ने लगे कि चुटकियों में गुणस्थानों की भूमिकाएँ लांघ ली जाती हैं। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान की स्थिति अन्तमुहूर्त्त भर की होती है। नाव के छेद बंद हो गए और नाव दुरुस्त हो गई तो फिर क्या देर लगती है ! शीघ्र ही केवल ज्ञान की दशा प्राप्त हो जाती है। फिर, वह दशा चाहे करोड़ वर्ष तक रहे, मगर उस दशा में नाव में छेद नहीं

रहेंगे। जब तक नाव में छेद हैं, तभी तक वह नाव संसार सागर में टिकी है, मगर जैसे ही अप्रमत्त भाव आया कि फिर देर नहीं लगती।

जीवन-नौका में सबसे बड़ा छेद मिथ्यात्व का है। इसे सबसे पहले बंद करना चाहिए। इस छेद को बंद न किया और अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन किया, तो भी नाव बीच सागर में ही डगमगाती रहेगी। शास्त्रकार कहते हैं कि सम्यक्त्व के द्वारा मिथ्यात्व का छेद बंद न किया गया—तो अहिंसा ऊपर से अहिंसा मालूम होगी, मगर वह आस्रव को नहीं रोक सकेगी। सत्य मालूम होगा, किन्तु वह सत्य, असत्य के छेद को बंद नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि की जितनी भी साधनाएँ हैं, वे सब साधनाएँ मालूम होंगी, पर आस्रवों के छेदों को बंद नहीं कर सकेंगी। अतएव सबसे पहले मिथ्यात्व की वृत्ति को काटना आवश्यक है।

गलत ढंग से सोचना, गलत तरीके से विचार करना, वस्तु को विपरीत रूप में समझना और सत्य के प्रति अटल श्रद्धा न होना आदि-आदि जो गलत दृष्टिकोण हैं, वही मिथ्यात्व हैं और मिथ्यात्व ही इस जीवन-नौका का सबसे बड़ा छेद है।

तो भगवान् महावीर ने कहा—सबसे बड़े आदर्श पर

ही चलो, किन्तु चलने से पहले अपने दृष्टिकोण को सही तौर पर स्थिर कर लो।

एक यात्री चल पड़ा और ऐसा बेतहाशा चला कि पसीने से तर हो गया। और जब उससे पूछा गया कि कहाँ से आ रहे हो? तब वह कहता है—'यह तो पता नहीं!'

'अरे भैया, कहीं से तो आ रहे हो?'

'हाँ, आ तो रहा हूँ, मगर नहीं मालूम कहाँ से आ रहा हूँ।'

'अच्छा, जा कहाँ रहे हो?'

'यह भी नहीं मालूम।'

कहिए साहब, ऐसा यात्री मिलेगा तो उसे यात्री कहेंगे या पागल? यह यात्रा नहीं भटकना है। जिसे अपने जीवन के आगे-पीछे का कुछ भी पता नहीं, जिसे अपने लक्ष्य का भी पता नहीं, अपनी प्रवृत्ति के उद्देश्य का भी ज्ञान नहीं, जो यह भी नहीं जानता कि वह क्यों यात्रा कर रहा है, वह यात्री नहीं है।

अतएव भगवान् महावीर ने कहा कि अनन्त-अनन्त काल से संसार में जो यात्राएँ कीं, जीवन को ऊँचाइयों पर ले जाने के लिए प्रवृत्तियाँ कीं वे यदि सम्यग्दृष्टि को पाये बिना ही की गई हैं तो वे साधनाएँ नहीं कहलायेंगी। वह तो केवल भटकना हुआ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर जीवन का आगा-पीछा

और लक्ष्य दिखाई देने लगता है। आप सम्यग्दृष्टि से पूछेंगे—'कहाँ से आ रहे हो?' तो वह उत्तर देगा—'संसार से आ रहे हैं।' और फिर पूछेंगे—'कहाँ जा रहे हो?' तो वह कहेगा—'जाना कहाँ है; उस परम अहिंसा के पार जाना है, परम सत्य के पार जाना है। मैं अभिमान के संसार से आ रहा हूँ और नम्रता के द्वार पर जाना चाहता हूँ।'

आप पूछेंगे—'अभी तक कहाँ भटक रहे थे?'

वह कहेगा—'अभी तक काम, क्रोध, लोभ, लालच और वासनाओं के घर में भटक रहा था, अभी तक विकारों की गंदी गलियों में चक्कर काट रहा था। मैं संसार में घूम रहा था!'

आप नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चार गतियों को ही संसार समझते हैं, किन्तु जीवन की दृष्टि से देखें तो हमारे अन्दर ही संसार है! कहा है—

कामानां हृदये वासः संसारः परिकीर्तितः।

हमारे अन्दर जो वासनाएँ हैं, वही संसार है।

मनुष्य गति ही नहीं, किन्तु मनुष्यगति के निमित्त भी भी संसार हैं और नरक ही नहीं किन्तु नरकगति के निमित्त भी संसार हैं। संवर और निर्जरा संसार के बाहर की चीजें हैं।

हम मनुष्य के संसार में रहते हैं। संसार को उतार कर फैंका नहीं जा सकता। आप कहते हैं-अमुक ने संसार को

त्याग दिया। मगर उसने क्या त्याग दिया ? वहाँ शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, वस्त्र हैं, भोजन है, पानी है-फिर छोड़ क्या दिया है ? तो संसार को छोड़ देने का अर्थ है, संसार के कारणों को छोड़ देना। जिन कारणों से संसार का बन्धन होता है, उन कारणों को छोड़ दिया है। वास्तव में आस्रव ही संसार-बन्धन का कारण है। जब आस्रव छोड़ दिया तो कहा जाता है कि संसार छोड़ दिया।

इसलिए हम कहते हैं कि सब से बड़ा संसार बाहर नहीं है, जो दिखाई दे रहा है, वह नहीं है। सबसे बड़ा संसार तो अन्दर ही छिपा है, जो दिखाई नहीं देता। बुरा बर्त्ताव, जो सब से बड़ा जहर है, यही सब से बड़ा संसार है। इस को निकाल कर फैंक दिया तो संसार से अलग हो गये।

तो कितनी ही बार साधु का वेष पहन लिया, कितनी ही बार श्रावक कहलाए और ओघों और मुँहपत्तियों का मेरुगिरि के समान ढेर कर दिया; किन्तु संसार की ओर से मोक्ष की ओर एक क़दम भी नहीं बढ़ा; और अभव्य ने भी इतना ही जोर लगा दिया; मगर पहला गुण-स्थान नहीं छूटा! संसार की वासना नहीं छूटी। कपड़े बदल लिये तो क्या हो गया; ओघों-मुँहपत्तियों का ढेर लगा लिया तो क्या प्रयोजन सिद्ध हो गया ? यह सब खेल खेले जा सकते हैं, किन्तु जीवन को बदलने का खेल खेलना आसान नहीं। कपड़े बदले जा सकते हैं, किन्तु मन को बदलना ही महत्वपूर्ण बात है। मन

को बदलना और वासनाओं से विमुख होना ही मोक्ष की ओर जाना है।

एक बार आचार्य हेमचन्द्र से पूछा गया कि जैनधर्म का निचोड़-सार क्या है? हजारों और लाखों ग्रन्थ नहीं पढ़े जा सकते और पढ़ें तो कहाँ तक पढ़े? पढ़ने की समाप्ति कहाँ है? अतएव आप धर्म का सार बतला दीजियेगा—तब उन्होंने कहा—

आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥

आस्रव का मतलब वासनाएँ हैं और वासनाओं से छुटकारा पा लेना संवर है। तो आस्रव संसार का कारण है। जन्म और मरण का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है विश्व की समस्त अनन्त-अनन्त आत्माओं की सत्ता इन्हीं दो में—संसार और मोक्ष में—समाप्त हो जाती है। तो आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि यही जैनधर्म का सार है। इसके अतिरिक्त तुम्हें जो दिखलाई देता है वह सब इसी का विस्तार है। चाहे आस्रव और संवर को समझ लो चाहे चौदह पूर्वों को समझलो।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो मालूम होता है कि यह आत्मा अनन्त-अनन्त काल से यात्रा कर रही है, किन्तु यात्री को पता नहीं है कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना चाहता हूँ; उसे यह भी नहीं मालूम है कि मैं क्या

प्रवृत्ति कर रहा हूँ ? हाँ सम्यग्दृष्टि समझता है कि मैंने कहाँ-कहाँ अनन्त काल गुजारा है और अब मुझे कहाँ जाना है !

तो आशय यह है कि सब से पहले मिथ्यात्व का छिद्र बंद करना है। इस छिद्र के बंद होते ही आत्मा को अपनी स्थिति और मर्यादा का भान हो जाता है। उसे अपने लक्ष्य का और मार्ग का पता चल जाता है और तब वह दूसरे-दूसरे छिद्रों को बंद करने के लिए उद्यत हो जाती है।

मिथ्यात्व का छिद्र बन्द हो जाने पर आत्मा का झुकाव जब त्याग और वैराग्य की ओर होता है तो सबसे पहले उसे हिंसा का छिद्र बन्द करना पड़ता है। इसी कारण श्रावक के बारह व्रतों में पहला स्थान अहिंसा को मिला है। जीवन में हिंसा के, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के जो भाव हैं, वह भी एक बड़ा छेद है। अहिंसा की आराधना करके उस छेद को हमें बन्द कर देना है। यह अहिंसा संवररूप है।

मिथ्यात्व का छेद—आस्रव बन्द होने पर चौथा सम्यग्दृष्टि गुणस्थान आता है। शास्त्र के अनुसार इस गुणस्थान की भूमिका विचारों का बदल जाना है, आचार यहाँ नहीं बदलता। आचार को बदल डालने की स्पृहा और भावना उत्पन्न हो जाती है, पर आचार बदलता नहीं है।

हमारे जीवन के दो अङ्ग हैं—विचार और आचार। इन्हीं दो में हमारा सारा जीवन ओत-प्रोत है। पहले विचार होता है और फिर आचार होता है। विचार, आचार का

संचालक है। हो सकता है कि कोई आदमी किसी प्रकार की अक्षमता के कारण अपने विचार के अनुसार आचरण न कर सके, किन्तु विचार के बिना आचार नहीं होता और यदि होता है तो वह विवेकपूर्ण आचार नहीं कहलाता और उससे लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। अतएव आचार से पहले विचार चाहिए और विचार के बाद आचार भी होना चाहिए। जब दोनों का जीवन में पूरी तरह समावेश हो जाता है तो जीवन पूर्ण हो जाता है और फिर कोई छेद नहीं रह जाता और वह छिद्ररहित नाव सागर के किनारे लग जाती है।

जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो सोचते हैं कि इस अनादि भव-भ्रमण का कारण विचार का न बदलना ही है। क्रोध का आना और चीज़ है, हिंसा करना, झूठ बोलना लोभ-लालच होना और अहंकार होना भी और चीज़ है, मगर इन्हें अच्छा समझना और बुरा एवं हेय न समझना दूसरी चीज़ है। चौथे गुणस्थान की यही विशिष्टता है कि उसको स्पर्श करने वाला हिंसा आदि को अच्छा समझना छोड़ देता है, वह उन्हें हेय समझने लगता है। अर्थात् वहाँ विचार और संकल्प का परिवर्त्तन हो जाता है। यह परि-वर्त्तन कोई साधारण परिवर्त्तन नहीं है। अपनी मंज़िल से विरुद्ध दिशा में चलने वाला यात्री यदि अपनी दिशा बदल कर अनुकूल दिशा को ग्रहण करले तो यह उसके लिए बहुत

ही महत्त्वपूर्ण बात होगी। वह पहले भी चल रहा था और अब भी चल रहा है; किन्तु पहले की चाल उसे लक्ष्य से दूर और दूरतर फेंकती जा रही थी और अब वह लक्ष्य की ओर पहुँच रहा है। विरुद्ध दिशा में चलना बन्द कर देने पर यदि अनुकूल दिशा में गति न हो तो भी कोई घाटे का सौदा नहीं है; क्योंकि ऐसा करने पर यदि लक्ष्य के समीप न पहुँचेगा तो कम से कम लक्ष्य से अधिक दूर तो नहीं हो जायगा। सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाने पर कम से कम इतना लाभ तो हो ही जाता है कि मुक्ति के लक्ष्य से विरुद्ध दिशा में होने वाली गति रुक जाती है।

सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की एक बड़ी महिमा यह मानी गई है कि यदि जीवन में एक बार भी उसका स्पर्श हो जाय तो अनन्त संसार परीत हो जाता है, अर्थात् भव-भ्रमण की अनन्तता मिट जाती है और अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल-परावर्त्तन तक ही भ्रमण करना पड़ता है। एक अन्तर्मुहूर्त्त के लिए भी सम्यक्त्व का प्रकाश मिल गया और यदि वह गुम हो गया तो भी वह दुबारा अवश्य मिलेगा और आत्मा के समस्त बन्धनों को तोड़ कर फैंक देगा, तो, मोक्ष प्राप्त करने का कारण बनेगा।

तो अनादि काल से—सदैव से—अन्धकार ही अन्धकार में भटकने वाले आत्मा ने एक बार प्रकाश देख लिया—सूर्य की एक किरण क्षण भर के लिए उसके सामने चमक गई;

यह क्या साधारण बात है ? जिसने अन्धकार ही अन्धकार देखा है और कभी प्रकाश नहीं देखा, उसके लिए अन्धकार ही सब कुछ है। वह अन्धकार को ही अपने जीवन की भूमिका मान रहा है। अन्धकार से उसे असन्तोष नहीं है, प्रकाश की उसे कल्पना ही नहीं तो इच्छा होने का प्रश्न ही कहाँ है ? किन्तु एक बार किसी दीवार में एक सूराख हो गया और सूर्य की सुनहरी किरण उसके सामने पहुँच गई और चमचमाता हुआ प्रकाश उसने देख लिया। और देखते ही भले वह प्रकाश अदृश्य हो गया, किन्तु फिर तो वह देखने वाला अन्धकार में छटपटाने लगता है। वह अन्धकार में रहेगा, क्योंकि उसे प्रकाश में आने का रास्ता नहीं मिल रहा है; किन्तु वह अन्धकार को अन्धकार तो समझने लगा है। प्रकाश की कल्पना उसे आ गई है। अन्धकार में रहता हुआ भी वह प्रकाश में आने के लिए तरसता है। वह अन्धकार करने वाली दीवारों को गिरा देना चाहता है।

तो एक प्रकार की आत्माएँ वे हैं, जिन्हें प्रकाश का दर्शन ही नहीं हुआ है। वे अन्धकार ही अन्धकार में हैं और उनका भविष्य भी अन्धकार में है। दूसरे प्रकार की आत्माएँ वे हैं, जिन्हें एक बार प्रकाश मिल चुका है। ऐसी आत्माएँ चाहे फिर अन्धकार में डूब जायँ, मगर उनका भविष्य प्रकाशमय है। वे अन्त तक अन्धकार में नहीं रहेंगी और एक दिन महाप्रकाशमय बन जाएँगी।

और जो अंधकार को पार करके प्रकाश में वर्त्तमान है, वे सम्यग्दृष्टि हैं। क्रोध किया, अभिमान किया, लोभ-लालच किया, और उसको अच्छा समझ लिया। भूल की और उसे अच्छा समझ लिया। तो यहाँ तक मिथ्यात्व की भूमिका रही सम्यग्दृष्टि की भूमिका आने पर हिंसा हुई; मगर उसे अच्छा नहीं समझा गया; असत्य बोला गया; किन्तु उसे अच्छा नहीं समझा गया। इस प्रकार समकित के आने पर विचारों की भूमिका बदल जाती है, विचारों की भूमिका बदलने से जीवन बदल जाता है और पापों का अनन्त-अनन्त भाग खत्म हो जाता है।

परिस्थिति से विवश होकर हिंसा करना और बात है और हिंसा करते हुए प्रसन्न होना और बाद में भी प्रसन्न होना और बात है। सम्यग्दर्शन के आने पर भी हिंसा का पाप बंद नहीं हो जाता, किन्तु उस हिंसा को अच्छा समझने का अनन्त पाप खत्म हो जाता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के आने पर भी असत्य बोला जाता है, किन्तु उस असत्य को अच्छा समझने का जो महान् पाप है, वह समाप्त हो जाता है।

जीवन का विकास इसी तरीके से होता है। इससे विपरीत यदि कोई मनुष्य विचार तो बदलता नहीं और आचार बदलने का दिखावा करता है, तो उसका क्या मूल्य है ? आचार से पहले विचार बदल जाना चाहिए।

विचार करो कि आपके सामने ये जो वृक्ष खड़े हैं, क्या बेचारे असत्य बोलते हैं ? चोरी करते हैं ? या परिग्रह रख रहे हैं ? एक चींटी रेंगती हुई चलती है तो क्या हिंसा हो रही है ? एकेन्द्रिय जीव को भाषा ही प्राप्त नहीं है तो वह असत्य बोलेगी ही कैसे ? फिर उसे असत्य भाषण आदि का पाप क्यों लगता है ?

इसका उत्तर यही है कि एकेन्द्रिय जीव भले असत्य नहीं बोलता; किन्तु असत्य बोलने की उसकी वृत्ति अभी तक टूटी नहीं है। असत्य की वृत्ति टूट जाना और चीज़ है और न बोलना और चीज़ है। एक गूँगा भी झूँठ नहीं बोलता है, फिर भी जब तक उसकी झूँठ बोलने की वृत्ति नष्ट नहीं हुई है, वह सच्चा नहीं कहा जा सकता।

अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर पापों का छूट जाना आवश्यक नहीं, किन्तु पापों को पाप न समझने का जो महान् पाप है वह अवश्य छूट जाता है। इसी को हम चौथे गुणस्थान में विचारों की भूमिका बदल जाना कहते हैं। विचारों की भूमिका जब बदल जाती है तो आगे भी दौड़ लगने लगती है और जब आचार पूर्ण हो जाता है तो आत्मा सब प्रकार के बन्धनों से अलग हो जाती है और मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

तो आनन्द जब भगवान् महावीर के चरणों में आया तो अपनी जीवन-नौका के छेदों को बन्द करने लगा। भग-

वान् ने कहा कि अनन्त-अनन्त काल बीत चुका है इस संसार समुद्र में तैरते-तैरते, मगर अब तक इसे पार नहीं कर पाया है और जब तक जीवन-नौका के छेदों को बन्द नहीं करोगे तब तक पार नहीं पा सकते।

भगवान् की यह वाणी सुन कर जीवन-नौका का मल्लाह आनन्द अपनी नौका को छोड़ रहा है और छोड़ने से पहले, भगवान् के नेतृत्व में वह अपने छिद्रों को बंद कर रहा है। उसने पहले मिथ्यात्व का छेद बंद किया और फिर हिंसा आदि के छेदों को।

तो व्यवहार में साधु बन जाना या श्रावक बन जाना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है, जीवन के छिद्रों का बंद हो जाना। जब जीवन-नौका के छिद्र बंद हो जाते हैं, तभी वह निर्विघ्न दूसरे किनारे तक पहुँच सकती है।

आज साधु और श्रावक की भूमिका में भी नाव डूबती हुई सी मालूम होती है, क्योंकि हम उन छेदों को बंद करने का प्रयत्न नहीं करते और फिर भी तैर जाना चाहते हैं। यह संभव नहीं है! ऐसी नाव नहीं तैर सकती। वह बीच में डूबे बिना नहीं रह सकती। बड़े-बड़े आदर्शों की चर्चा आप कर लेते हैं, किन्तु जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्न ज्यों के त्यों अटके पड़े रहते हैं। इस प्रकार सारा जीवन छिद्रमय बना हुआ है और चलनी की तरह हो रहा है। ऐसी छिद्रमय नाव किस प्रकार पार हो सकती है?

आप अपने व्यक्तिगत जीवन को जाँचने का प्रयास करें और तटस्थ आलोचक की दृष्टि से उसकी आलोचना करें तो मालूम हो कि उसमें कितने छेद पड़े हुए हैं ! स्वार्थ और वासनाओं से जीवन चलनी बना हुआ है ! इसी प्रकार पारिवारिक जीवन की नाव भी गड़बड़ी में पड़ी है । सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन भी छिद्रमय हो रहा है । तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति या समाज का उद्धार किस प्रकार हो सकता है !

अतएव सर्वप्रथम वासनाओं और स्वार्थों के छेदों को बंद करने के लिये सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने की आवश्यकता है । सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर अन्यान्य छिद्र भी बंद होते चले जाएँगे और आपकी जीवन-नैया महाकल्याण की दिशा में अग्रसर होती चली जायगी । तथास्तु

कुन्दन-भवन,
ब्यावर [अजमेर]
१६-६-५०

सन्मति-ज्ञान-पीठ के प्रकाशन

१ सामायिक-सूत्र [सभाष्य]	उपाध्याय	अमर	मुनि	३॥)
२ श्रमण-सूत्र [सविवेचन]	,,	,,	,,	४॥)
३ अहिंसा-दर्शन [अहिंसा-भाष्य]		,,	,,	४)
४ जीवन के चलचित्र	,,	,,	,,	२)
५ जैनत्व की झाँकी	,,	,,	,,	१)
६ संगीतिका [राज-संस्करण]	,,	,,	,,	५)
७ ,, ,, [साधा० सं०]	,,	,,	,,	३)
८ सत्य-हरिश्चन्द्र [काव्य] अप्राप्य		,,	,,	१॥)
९ अमर-माधुरी [कविता]	,,	,,	,,	१)
१० आवश्यक-दिग्दर्शन	,,	,,	,,	१॥)
११ भक्तामर-स्तोत्र [सटीक]	,,	,,	,,	।–)
१२ कल्याण-मन्दिर [,,]	,,	,,	,,	॥)
१३ वीर-स्तुति	,,	,,	,,	।–)
१४ जिनेन्द्र-स्तुति [कविता]	,,	,,	,,	।–)
१५ तीन बात	,,	,,	,,	।)
१६ आदर्श कन्या	,,	,,	,,	॥।)
१७ जैन कन्या शिक्षा [चार भाग]				१।–)
१८ सामायिक-सूत्र [पाठशाला सं०]				।=)
१९ संस्कार पोथी [भाग तीन]				॥।)
२० मंगल-वाणी	मुनि श्री अखिलेशचन्द्र जी			१॥)

पुस्तक	लेखक	मूल्य
२१ मंगल-पाठ	” ”	=)
२२ उज्ज्वल-वाणी [प्रथम भाग]	महासती उज्ज्वलकुमारी	३)
२३ उज्ज्वल-वाणी [दूसरा भाग]	” ”	२।)
२४ कांटों के राही	डा० इन्द्र, एम० ए०	१॥)
२५ भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ	”	।–)
२६ सोलह सती	रत्नकुमार 'रत्नेश'	२)
२७ महासती चन्दनबाला	शान्तिस्वरूप गौड़	३)
२८ खूब-कवितावली	मुनि श्री हीरालाल जी	३)
२९ भागो नहीं, बदलो	मुनि श्री सुरेशचन्द्र जी	।)
३० संगीत-माधुरी	” ”	॥।)
३१ सन्मति-सन्देश-श्री अखिलेश मुनि तथा सुरेश मुनि		॥)
३२ दिव्य-ज्योति	काशीराम चावला	१॥)
३३ शान्ति-जिन-स्तुति	मुनि श्री हेमचन्द्र जी	=)
३४ जीवन चरित्र	गणी उदयचन्द जी म०	२॥)
३५ महामंत्र नवकार का सुनहरी चित्र		१)
३६ जीवन-दर्शन	कविरत्न श्री अमर मुनि	४)
३७ सत्य-दर्शन	” ”	२॥)
३८ सन्मति-महावीर	सुरेश मुनि	१।)
३९ अस्तेय-दर्शन	कवि श्री अमरचन्द्र जी म०	१॥)
४० ब्रह्मचर्य-दर्शन	” ”	२)
४१ श्रावक-धर्म	महासती श्री उज्ज्वलकुमारी जी	२)
४२ अपरिग्रह-दर्शन	कवि श्री अमरचन्द्र जी म०	२)
४३ उपासक आनन्द	” ” ”	३।)
४४ जीवन की पाँखें (प्रेस में)		
४५ अमर वाणी (प्रेस में)		